मूल्य : पाच रुपये

◇

पहला सस्करण 1971 , © शिवानी
गोपाल कम्पोजिग एजेन्सी द्वारा
शाहदरा प्रिंटिग प्रेस, दिल्ली, मे मुद्रित
APARĀDHINI (Hindi Novel) by Shivani Rs 5 (

प्रिय इज़ा को

क्रम

जा रे एकाकी २१

छि ममी, तुम गदी हो … ४६

साधो, ई मुर्दन कै गाव ६८

अलख माई ८८

चाद .. १०७

भूमिका

अपनी किसी कहानी के लिए कोई वक्तव्य या उपन्यास के लिए किसी प्रकार की भूमिका लिखने मे मेरी लेखनी सदैव विद्रोह करती रही है। वर्जिनिया वुल्फ की इन पक्तियो का मुझे अनायास ही स्मरण हो आता है—"किसी पुस्तक की भूमिका, मुझे गत्ते के उस टुकडे-सी ही लगती है, जिसका उपयोग, किसी हिलती टागवाली मेज़ को दृढता से टिकाने के लिए किया जाता है। जिस मेज़ की टागें हिलती हो, मेरे विचार मे उस मेज़ को जीने का कोई अधिकार नही है। रचना मे इतनी दृढ़ता होनी चाहिए कि वह बिना किसी गत्ते के आधार के स्वय अपने पैरो पर खडी हो सके।" मैं भी वुल्फ की इन पक्तियो का हृदय से समर्थन करती हू। रचना की हिलती टागो को सुदृढ बनाने के लिए लगाया गया गत्ते का टुकडा, एक न एक दिन मेज़ हिलाए जाने पर, स्थानच्युत हो ही जाएगा और मेज़ फिर हिलने लगेगी।

फिर भी मैं आज इस सग्रह की भूमिका, स्वय लिख रही हू, किंतु

पाठको को अपने पात्रो के परिवेश का परिचय देने को आज मेरी लेखनी स्वय ही मुखरा वन रही है, इसका प्रवाह आरम्भ मे ही अवरुद्ध करना मुझे उचित नही लगा। रचना क्यो लिखी गई, कहा से मुझे प्रेरणा प्राप्त हुई, क्या कथानक भोगे हुए यथार्थ का अनुभूत अश है? ऐसी निरर्थक प्रश्न-शलाका से कोंची जाने पर, मैं वसी से बिंधी मीन-सी ही छटपटाने लगती हू। जीवन की समग्रता मे कहानी की एकात्मता मेरे लिए सदैव एक अनोखे आनन्द की अनुभूति वन उठती है, किंतु अपने पात्रो की सृष्टि कर, उनमे भय-विस्मय, हर्ष-विषाद, सवको अपने अनुभूत जगत् से रसप्लावित करने पर भी मुझे कभी सतोष नही होता। वरावर यही लगता रहता है कि कही चूक गई हू। जानकी की जिन मद-भरी आखो की शरवती शोखी को मेरी कलम हू-वहू उतारना चाहती थी, उसे एक के वाद एक कई पृष्ठ फाडने पर भी ठीक उतार नही पाती। लगता है जिसका चित्र खीच रही थी, या तो वह ही हिल गई है या मेरी फिल्म ही कही expose हो गई है। मग्गी के मोटे अधरों पर थिरकता वह वालसुलभ स्मित या वार्डर की वह सोने की कील-ठुकी जगमगाती अमानवीय हसी, क्या मेरी लेखनी चित्रित कर सकी है? यही तो लेखनी की विवशता है! मैंने जो उस विचित्र परिवेश मे देखा है, सुना है, अनुभव किया है, उसे क्या इन सस्मरणो को पढने पर भी मेरे पाठक देख-सुन सकेंगे? अनुभव भी तो कैसे विचित्र थे! मैं उस पहाडी षोडशी का आत्मनिवेदन सुन रही थी, और जेठ की भरी दुपहरी मे भी कारागार के किसी अदृश्य पौर से अचानक आ गया वातानुकूलित नकली शीतल वयार का एक झोका मुझे चौंका गया था? यह कारागार था या रवीन्द्रालय का वातानुकूलित कक्ष? कैसा आश्चर्य था।

बाहर पत्ता भी नही हिला-डुला, और कहानी के क्लाइमेक्स के बीच किस दयालु अतर्यामी का वरदहस्त यह बिजना डुला गया। यह प्रकृति का विचित्र नियम है कि जिस सत्य को ग्राह्य करने की हमारी बौद्धिक क्षमता नही रहती, उस सत्य को हम सत्य मानकर विश्वास नही कर पाते। किन्तु फिर भी सत्य सत्य ही रहता है। नाभि-कमल की सुगध वैज्ञानिको की दृष्टि मे कोरी कल्पना-मात्र है, किंतु कुछ सत्य ऐसे भी हैं जिनकी व्याख्या सम्भव नही होती। बाहर चटख धूप थी किंतु मुझे बराबर यही लग रहा था जैसे गोधूलि का-सा निरतर आलोक पूरे कारागार पर छाया है। यह ठीक है कि कहानी लिखने का अधिकार केवल उसे ही है, जिसका जीवन अभिज्ञता से समृद्ध है, किंतु जीवन की यह अभिज्ञता भी तो जगली खरहे-सी भागती, कब कल्पना-लोक के किस अरण्य मे दुबक जाएगी, इसका कोई ठिकाना है? एक बार लुप्त हो जाने पर वह क्या फिर सहज ही मे पकड मे आती है? कारागार का परिवेश ही कुछ ऐसा विचित्र होता है कि लेखनी की स्वाभाविक गति स्वय ही शिथिल हो उठती है। मेरा परिचय वहा ऐसी बदिनियो से हुआ, जिनके विषय मे लिखने को मेरी लेखनी किसी प्लाचेट की माध्यम बनी लेखनी की भांति स्वय ही चलने लगी, किंतु कारागार के नियमानुसार मैं उनकी कहानी लिख नही सकती थी। जब तक उनकी अपील की सुनवाई न हो जाए, उनके विषय मे कुछ लिखना कभी स्वय मेरा ही गुरुतर अपराध बन सकता था। फिर भी कुछ चेहरे मुझे भुलाए नही भूलते। चौदह वर्ष की वे भोली निष्पाप आखें, जो कुछ न पूछे जाने पर भी पहाडी ताल-सी डबडबाने लगी थी, मेरी उत्सुकता को झकझोरकर जगा गई थी। क्या अपराध कर सकती

थी वह भला । वह तो एकदम ही बच्ची थी, कितु कानून की दृष्टि मे तो वह बच्ची नही थी । सत्तर वर्ष के ताऊ के बहकावे मे आकर, वह अबोध बालिका अपनी ही समवयसिनी गुइया को बुला लाई थी । कामुक ताऊ की विवेकहीन कुटिल योजना को वह समझ नही पाई थी कितु मृत्यु से पूर्व दिए गए उसीकी सहेली के बयान ने उसे भी बदिनी बना दिया था । फिर चिकने-चुपडे चेहरेवाली कीर्तनिया प्रौढा माजी, जिनके पेशे की कुटिलता का अगराग उनकी गोरी चमडी मे रिस-भिजकर रह गया था । कारागार मे भी क्या उनके भक्तगणो का अभाव था ? एक पक्ति गाती तो कारागार की ऊची प्राचीरें भी गूजने लगती । किसी पेशेवर कव्वाल की-सी खनकती बुलद आवाज़ थी, और व्यक्तित्व ? उजड जाने पर भी दिल्ली दिल्ली ही थी इसमे कोई सदेह नही । अर्धोन्मीलित आखो के नीचे स्मृतियो का कैसा गदला सागर लहरा रहा था, यह भला कोई क्या देख सकता था ? किसी काल्पनिक यज्ञशाला के निर्माण हेतु, एकत्रित की गई चदे की विपुल धनराशि इसी मेदबहुल चिकनी काया की तहो मे बिछी है, यह कौन जान सकता था भला ? इसी भाति, भृगुसहिता के उस रहस्यमय युवा दैवज्ञमार्त्तंड की लोमहर्षक कहानी लिखते कई बार मेरी अगुलिया मचल उठी हैं, कितु, लेखनी की विवशता भी कैसी करुण विवशता है । यह केवल वही समझ सकता है जो स्वय भुक्त-भोगी रह चुका है । कल्हण की 'राजतरगिणी' की ये पक्तिया मुझे अत्यत प्रिय हैं, "कवि यदि सर्जन की ज्ञानगम्य भावराशि को अपने ज्ञाननेत्र से अवलोकन नही करेगा तब उसकी दिव्य दृष्टि का प्रमाण ही भला किसीको क्या मिल पाएगा ?" कितु उस भावराशि को अपने ज्ञाननेत्र से अवलोकन कर लेने पर भी उस दिव्य दृष्टि का

प्रमाण देना क्या इतना सुगम है ? 'धर्मयुग' मे जब 'जा रे एकाकी' धारावाहिक किस्तो मे प्रकाशित हो रही थी, तब ही अधिकारी वर्ग मे उसकी तीव्र आलोचना होने लगी थी । कैसे लिख दी थी मैंने यह पक्ति, "क्या ये सचमुच बच्चे थे ? छ वर्ष के भोले, निष्पाप चेहरो पर छब्बीस वर्ष के अनुभव की छाप थी, बेरौनक उदास चेहरो मे जडी पीली आखो मे क्षण-भर के लिए किसी दम तोडती टार्च के नन्हे-नन्हे बल्ब की-सी ही चमक आई, फिर दप्-से बुझ गई ।" क्या मुझे पता नही था कि कारागार मे उन बच्चो के लिए नियमित दुग्धपान की सुव्यवस्था थी ? मुझे अपनी उस मिथ्या पक्ति के हेतु अब उसी पत्रिका मे क्षमायाचना की सक्षिप्त विज्ञप्ति देनी होगी । किंतु, न तब मैंने अपनी कैफियत देने की आवश्यकता समझी थी, न अब समझती हू । कुछ परिवेश ऐसे भी होते हैं जहा स्वाभाविकता स्वय दम तोड देती है । जिस परिवेश मे वे अबोध बच्चे बडी विवशता से जी रहे थे, वहा यदि उन्हें किसी ऑस्ट्रेलियन स्वस्थ धेनु का थनपुछा दूध भी पिलाया जाता, तब भी उन चेहरो की करुण पीताभ विवशता नही मिट सकती थी । उसी कारागार से लगे एक दूसरे कारागार से मुझे जब 'रक्षा-बधन' का निमत्रण मिला, तब मैं पल-भर को झिझकी अवश्य थी । जाऊ या नही ? एक दिन, दो-तीन अनजान अपरिचित बदियो की कलाई मे राखी बाधने से क्या लाभ ?— मुझे यह सब, दिखावटी, आडम्बरपूर्ण समाज-सेवा का प्रदर्शन-मात्र प्रतीत हुआ । सज-सवरकर, चार-पाच रगीन चमकती राखिया बाधने पर क्या उस पावन डोर के अस्तित्व को जीवन-भर अक्षुण्ण रखना मेरे लिए, अपनी व्यस्त गृहस्थी मे, कभी सभव हो सकेगा ? यहा तो राखी-बधन के दिन, कभी-कभी प्रवासी सगे-सहोदर की कुशल पूछना

भी भूल जाती हू ! कितु फिर मैं चली ही गई थी। एक विशाल सभा-भवन मे दूर-दूर तक फैली बदियो की उस पक्ति को देखकर कलेजा डूबने-सा लगा था। खूनियो की एक विशेष रग की वर्दी होती है, ऐसा ही बचपन मे कभी सुना था। पाच एक-सी पीली वर्दीधारी नबरदार धीरे-धीरे हमारी ओर बढे चले आ रहे थे। वे पाचो पूरे कारागार के प्रतिनिधित्व करने का गौरव प्राप्त कर सके थे, अपने आदर्श एव अनुकरणीय आचरण करने का प्रमाण-पत्र देकर। वैसे, उनका कलुषित अतीत उनके उजले वर्तमान के एकदम ही विपरीत था। एक-एक ने चार-चार, पाच-पाच निर्मम हत्याए की थी। आज उन्ही हत्यारे सहोदरो की कलाई पर मुझे राखी बाधने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे पाचो नवीन सहोदर घुटना टेककर मेरे सम्मुख बैठे तो मुझे लगा, रामलीला मे राक्षस बने पात्रो ने अपने निशाचरी मुखौटो की डोरिया स्वय ही कानो से नीचे उतार ली हैं। स्निग्ध, निष्पाप, निर्दोष, स्नेही स्मित जैसे स्वय मेरे सगे-सहोदर का था। "यह हैं—सिह।" अधीक्षक हस-हसकर उनका परिचय दे रहे थे—"बहुत अच्छी कविता करते हैं और यह है हमारे कारागार के सुकठी गायक, इनका बेजोड बैड, पूरे शहर मे प्रसिद्ध है।" उधर राखी बधवा रहे तरुण कवि का चेहरा, विनीत नम्रता मे झुकता, घुटनो तक नत हो गया। गौरवर्ण, चौडे कधे, तीखी नाक और पतली मूछें, जैसे मेरी किसी कहानी का नायक ही मेरे सम्मुख नतमस्तक बैठ गया हो। मुझे बगला कवि काशीरामदास की बहुत पहले पढी गई पक्तिया स्मरण हो आई—

"देखो द्विज मनसिज
जिनिया मूरती

खगराज पाये लाज
नासिका अतुल"

अचानक तवले, हारमोनियम और झाझ की झम्मक-झम के साथ फिर वदियो का समवेत मधुर सगीत गूज उठा था

"यह है उजडे वतन का चमन भाइयो
वहिनें आई तो इसमे वहार आ गई ।"

सुकठी गायक की पतली मीठी आवाज सबके वीच भी पहचानी जा रही थी, जैसे प्राय कव्वालो के सधे मासल कठ के वीच किसी किशोर का मीठा कच्चा स्वरकठ वुलवुल-सा चहक उठता है, ठीक ऐसी ही आवाज थी उसकी। मास्टर मदन की-सी ही मीठी खनक थी उसके अपूर्व कठस्वर मे। वही कारागार का सगीत-निर्देशक भी था। वैंड लेकर वाहर जाने की उसकी माग, आरम्भ मे सर्वसम्मति से ठुकरा दी गई थी। ऐसे खतरनाक कैदी को किसी विवाहोत्सव मे वाहर भेजना खतरे से खाली नही था। न जाने कितने कत्ल कर, वह निर्मम डकैत, लम्वी सजा भुगत रहा था। क्षण-भर को मिली स्वतन्त्रता कभी भी उसका विकृत मस्तिष्क फिरा सकती थी। हाथ की मशकवीन दूर पटक, वह यदि वारात मे हवा मे छोडी जा रही वन्दूक को किसीके हाथ से छीनकर भाग गया, तो कोई क्या कर लेगा ?

किन्तु, वह गिडगिडाया, "मुझे एक वार भेजकर तो देखिए सरकार। मैं आपको यकीन दिलाता हू, मैं ठीक लौट आऊगा," और फिर सचमुच ही उनके सहृदय अधीक्षक ने सवसे विरोध मोल लेकर उसे अनुमति दे दी थी। अपने अनोखे वैंड को लेकर वह ठीक समय पर लौट आया था, फिर तो आज तक वह न जाने कितनी वारातो,

उत्सवो मे जा चुका है, कभी भी उसने अपने प्रभु को धोखा नहीं दिया।

मैं उस दिन, जितनी ही वार एकसाथ अनुशासन मे वधे उन मूर्तिवत् वैठे वदियो को देखती उतनी ही वार एक अडिग मूर्ति वार-वार मेरे कौतूहल को उकसा रही थी। दोनों घुटनों मे सर छुपाए वह एक ही मुद्रा मे वैठा था। उसके सतर कधे देखकर लगता था, वह जवान है। एक वार भी उसने चेहरा नही उठाया। कौन-सा दु ख, कौन-सी स्मृति, उस अभागे को विचलित कर रही थी ? एक के वाद एक कई गाने गाए गए, वदियो ने स्वरचित कविता-पाठ किया, भाषण हुए, तालियो की गडगडाहट से कारागार की ऊची निर्मम प्राचीरें थर्राईं, किन्तु वह अभिशप्त घने काले वालोवाला माथा उसके दोनो घुटनो मे छिपा ही रहा। एक वार जी मे आया, पास ही वैठे अधीक्षक से उस कच्छप के छिपे मुड का रहस्य पूछ लू, पर फिर चुप रही। जो व्यक्ति ससार से स्वेच्छा से ही गुमनाम वना, अदृश्य होना चाहता है, उसे वाहर खीचकर क्या लाभ ? किन्तु एक फरमाइश मैंने फिर भी कर ही दी थी।

"आपके वाल-सुधार-गृह के सदस्य भी तो यहा उपस्थित होगे, क्यो न सवसे छोटे वदी को भी एक राखी वाध दी जाए !" मैंने अधीक्षक से कहा, और थोडी ही देर मे वह नन्हा वदी सर झुकाए मेरे सम्मुख वैठ गया। ज्वर से तप्त, दुवली कलाई उसने मेरी ओर वढा दी। उसे उस दिन तीव्र ज्वर था फिर भी वह जिद कर आ गया था। सुधार-गृह मे उसके पठन-पाठन की भी पूर्ण व्यवस्था थी, इसीसे उस दिन वह अपनी एन० सी० सी० की पोशाक पहनकर आया था। उस तप्त कलाई पर राखी की रेशमी डोर वाधने लगी, तो मन ही मन

पश्चात्ताप भी हुआ—मैं यह जानती कि मुझे एक ऐसे नन्हे सहोदर की कलाई पर भी राखी बाधनी होगी, तो उसीकी वयस से मेल खाती राखी ले आती जैसी राखी देखकर कभी मेरा नन्हा पुत्र मचलता था। घडी बनी, राधाकृष्ण बनी, ऐरोप्लेन बनी चमकीली पन्नी से जगमगाती राखी। यह तो एक साधारण रेशमी डोर थी। बेचारा नन्हा-सा बदी! क्या अपराध कर सकता था वह भला, फिर भी हृदयहीन अधिकारियो ने उसे इसी बदीगृह मे बदी बनाकर रख दिया था। शायद मेरे चेहरे पर मेरी उधेडबुन आवश्यकता से अधिक स्पष्ट अक्षरो मे बिखर गई थी। हसकर अधीक्षक बोले, "बडे बहादुर हैं ये—सिह। क्यो है ना? पिछले वर्ष इन्होने अपने एक साथी को पिता की भरी बन्दूक लेकर ठडा कर दिया।"

मैं अविश्वास से कभी उन्हें देख रही थी, कभी उस नन्हे बन्दी को!

क्या ऐसा कभी हो सकता था? मेरे सम्मुख नतमस्तक बैठा, भोला बालक क्या सचमुच ही हत्यारा था? किन्तु सत्य घटना भी कभी-कभी कैसी अविश्वसनीय लगने लगती है। काच के कचो से खेल रहे साथियो मे से एक से लड पडा था—सिह। उम्र थी ग्यारह साल, पर गुस्सा था बाईस साल का। आव देखा न ताव, बाप की भरी बन्दूक उठा लाया और घोडा दबा दिया। फिर एक ओर बदूक का भारी धक्का खाकर निशानेबाज पडा था और दूसरी ओर निर्जीव निशाना।

कच्ची वयस देखकर, उसे केवल तीन वर्ष की सजा दी गई और बाल-सुधार-गृह भेज दिया गया था। वह राखी बधवाकर उठा, तो एक पद्रह-सोलह वर्ष का नम्र किशोर अभिवादन कर बैठ गया।

मसें अभी ठीक से भीगी भी नही थी, कठस्वर ने अभी-अभी ही केंचुली बदली थी। वह मुसलमान था और तीन वर्ष की सज़ा के अतिम चरण मे था, दूसरे ही महीने, उसकी मुक्ति का परवाना किसी भी दिन आ सकता था। उसका अपराध कैसा था, यह जानने की मुझे कोई उत्सुकता नही रह गई थी। अपराध जैसा भी रहा हो, चेहरे पर ऐसी करुण विनम्रता थी, कि मेरा जी भर आया—

“किस क्लास मे पढते हो ?” मैंने पूछा।

“जी, नाइन्थ मे।” उसने सर झुकाकर ही उत्तर दिया।

“घर कहा है ?”

“जी रामपुर”

उसके होठ कापने लगे, शायद सोच रहा होगा, कही मैं अपना तीसरा अविवेकी प्रश्न न पूछ बैठू—‘यहा कैसे आए ?’ पर मैंने कुछ नही पूछा, वह तेजी से उठा और बदियो की भीड मे कही खो गया।

उनके लिए उन राखियो का कैसा अपूर्व महत्त्व है, यह अधीक्षक मुझे बतलाने लगे, “रामायण मे दबाकर इन्हें रख देंगे अभागे, आज से इनकी यही राखिया इनकी सगी बहनें बन जाएगी।”

मेरी लम्बी सास कठ ही मे अटककर मेरा दम घोटने लगी। न जाने किस रामायण या कुरान के पृष्ठो मे मेरी राखी भी दब जाएगी। मेरी रामायण मे तो उनका कोई स्मृति-चिह्न नही था, पर फिर भी मुझे रह-रहकर उन अनजान सहोदरो की स्मृति कभी-कभी विह्वल कर देती है।

सूखे चेहरेवाला सिंह, दोनो घुटनो मे सिर छिपाए वह घने काले बालोवाला जवान, अपनी मीठी स्वरलहरी मे स्वय डूबता और सुननेवालो को डुबोता वह सगीत-निर्देशक और वह सुकठी लजीला कवि।

पाठक, विलसित कौतुक के सुख से ही सुखी नही होता, यह मै जानती हू। कहानीकार का स्थापत्य चातुर्य ही उसे नही मोहता, यह भी मुझे पता है। इतना ही जानती हू, कि जब पात्र-पात्रियो के सहज—आघात-सघात, स्वय पाठक एव रचनाकार के आघात-सघात बन उठते हैं, तब ही रचनाकार को लगता है, उसने व्यर्थ ही परिश्रम नही किया, सफलता का चरम बिन्दु उसने भले ही न पाया हो आशिक सफलता का स्पर्श, उसने कर ही लिया है। मैं नही कह सकती कि मुझे कहा तक सफलता मिल सकी है, किन्तु जब ये सस्मरण रिपोर्ताज रूप मे 'धर्मयुग' एव 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' मे छप रहे थे, स्नेही पाठको के पत्रो के सैलाब मे मैं डूब गई थी, और इस डूबने मे भी कैसा आनन्द है। किसीने, तीस वर्ष पूर्व की मध्य प्रदेश की उस पति-हता मालिन को पहचान लिया था।

"यह टीकमगढ की वही मालिन है ना ?" उसने लिखा था, "जब अपार भीड के साथ इस मालिन को हमारे घर की सडक से ले जाया गया, तब मैंने भी इसे देखा था। बोरे मे बद इसके पति के लाश के टुकडे भी, इसके साथ-साथ चल रहे थे।"

हा यह वही मालिन थी, रुग्ण पति को शौच के बहाने बाहर ले जाकर, इसने अपने प्रेमी के गडासे की सहायता से उसे क्षण-भर मे रोग-मुक्त कर दिया था, फिर दोनो ने लाश को गाडकर मिट्टी से ढाप दिया। बहुत दिनो बाद वर्षा की वेगवती धारा मिट्टी बहा ले गई और ककाल का कटा हाथ, स्वय ही अपनी हत्या का सशक्त गवाह बना और ऊपर निकल आया।

मेरे किसी दूसरे पाठक ने जानकी को भी पहचान लिया था, पहचाना ही नही, उसने तो उसे बहुत निकट से देखा-परखा था।

"यह वही है ना ? क्या आप मेरी कहानी लिखना पसन्द करेंगी, कहिए तो आ जाऊ ! जब जानकी की कहानी लिखने मे आपकी कलम नही शरमाई तो मेरी कहानी भी अवश्य लिख ही सकती है ।"

मैंने सहमकर चिट्ठी फाड दी थी । कैसा विचित्र है इस लेखनी का पेशा । कभी वह स्वेच्छा से ही बन उठती है सलज्ज कुलवधू और कभी प्रगल्भा गणिका ।

आज मेरे ये सस्मरण, मुझे कुछ दिन पूर्व देखे गए नाटक 'आगरा बाज़ार' के रगमच की ओर खीचने लगते हैं । मुझे लगता है, जैसे उस नाटक के तीन रहस्यमय फकीर, अपनी पैंबद लगी रग-बिरगी कफनी की ढीली बाहे हिलाते, डफली बजाकर, मधुर स्वर मे गाते किसी अदृश्य नेपथ्य से मेरी ओर चले आ रहे हैं । मै उन्हे देख नही पाती, किन्तु उनकी मीठी आवाज़ कानो मे गूजती जा रही है—

'गुल शोर बबूला आग हवा
और कीचड पानी मिट्टी है
हम देख चुके इस दुनिया को
यह धोखे की-सी टट्टी है ।'

—शिवानी

अपराधिनी

जा रे एकाकी

एक साथ ही मुझे अपनी स्नेही पाठिकाओ के दो निमत्रण मिले थे, किन्तु कैसा विरोधाभास था !

एक ओर समृद्ध क्लब के दर्शनीय लान मे कतारबद्ध भव्य गाडिया, गाडियो से उतरती महिमामयी महिलाओ के हवा मे फहराते चदेरी कोटा और चिकन के दामी आचल और आचलो से उठती सुगधि की मदिर लपटें, रगीन, निश्चिंत कहकहो के बीच परिवेशन मे दक्ष बैरे, हाथ बाधे इधर-उधर घूम रहे थे। दीवार पर लगी एक सगमरमरी शिला की ओर मेरी दृष्टि स्वत ही उठ गई। छोटी-सी शिला पर क्लब की सरक्षिकाओ के नाम खुदे थे, और उनके बीच तो शायद अवध की पूरी ताल्लुकेदारी ही आकर, बिखर गई थी। देखते ही देखते, दूधिया धुली चादनी पर इद्रसभा उतर आई। रगीन लाल चमकती कारचोबी की टोपिया कव्वाली मे झूमने लगी। अनभ्यस्त हाथो की सगत के बीच सहसा घुघरू खनके और नृत्य-सगीत के अबीर-गुलाल से दिशाए रग गईं।

दूसरा निमत्रण आया था एक विचित्र खेमे से।

मैं वहा पहुची तो लौह-कपाट मुदे थे। भयावह आकृति के दो मुछन्दर सिपाहियो ने मुझे सदिग्ध दृष्टि से देखा, पर मैं तो अपने उस विचित्र परिवेश को देख रही थी। क्या यह सचमुच लखनऊ था ? दूर-दूर तक फैले वियावान अरण्य को एक टिट्टिभ अपनी बेमौसमी चीत्कार से चीरता सन्न से निकल गया और मैं सहमकर आगे बढी।

आज भी मैं अतिथि थी, किन्तु कैसी अनोखी बस्ती की ! वहा का उन्मुक्त आकाश भी शायद, उन अभिशप्त बदिनियो के तप्तनि श्वास से मटमैला पड गया था, पेड थे, किन्तु पत्तिया थी पीली, बीमार और मुरझाई पास ही, एक घनी अमराई भी दिखी पर मुझे लगा, उस आम्रकुज मे कभी कोकिल भी नही टहूकी होगी। लोहे की मोटी-मोटी छडो को पकडकर दोनो सिपाहियो ने, किसी बुदेलखडी दुर्ग की-सी सुदृढ ड्योढी के द्वार खोल दिए, और उन अनोखी अनजानी बदिनियो के स्नेहपूर्ण सरल आतिथ्य ने, मुझे बाहो मे भर लिया। मेरी मेजबान थी वे बदिनिया, जिन्हे भाग्य, परिस्थिति एव समाज ने अपने कुचक्र के झझावात मे लपेटकर, उन चहारदीवारियो मे मूद दिया था। वहा यौवन, वात्सल्य, प्रेम, उमग, आशा सबका प्रवेश निषिद्ध था। बीस वर्ष के जवान सलोने चेहरे पर ढूढे मे भी तारुण्य की झलक नही दिख सकती थी। प्रौढा वय भार नमिता वृद्धा लग रही थी और वृद्धा अर्थी मे बधी-सी, निर्जीव देह लिए अवश, अचल बैठी थी, जैसे बैठे ही बैठे प्राण छूट गए हो, भावनाहीन चेहरे, अडिग मुद्रा और परलोक की ओर बधी टकटकी एक सौ अस्सी जोडा आखे, एकसाथ मेरी ओर उठी, और उस अचूक चानमारी से मेरी धज्जिया उड गई, मैंने इधर-उधर दृष्टि घुमाई। सुघड, स्वच्छ, शालीनता मडित, स्निग्ध नि स्तब्धता

ने एक अदृश्य पुष्पहार जैसे मेरे गले मे डाल दिया। कौन कह सकता था कि यह कारागार है और मेरे सम्मुख नत मस्तक खडी उन एक सौ अस्सी बदिनियो की अधिकाश गर्दनो पर फासी का फदा कभी आता-आता रुक गया है।

"इनमे से अधिकाश खून की सजा भुगत रही हैं, कुछ डकैती और फौजदारी की वैसे सामान्य अपराध की सजा पाकर कोई भी बदिनी यहा नही जाती, प्राय उन्हे ही यहा भेजा जाता है, जिनकी फासी की सजा कम्यूट कर दी गई है।" डॉक्टरनी ने कहा और मैं, अविश्वास से उन निरीह चेहरो को देखती ही रह गई।

खाना मेज़ पर लगाकर वे पूर्ण अनुशासन के सयम मे बधी, किसी फौजी टुकडी के जवानो की भाति, अपनी-अपनी पत्थर की चौकियो पर बैठ गई। न उन चेहरो पर औत्सुक्य था, न उन निष्प्रभ आखो मे नारी-सुलभ जिज्ञासा।

"खाना सब इन्होने बनाया है," डॉक्टर ने कहा और मैंने मेज़ पर सजे सुस्वादु भोज्य पदार्थो के सुवासित अबार को ध्यान से देखा। क्या यह सभव था कि जिन्होने गडासे से, न जाने कितने नरमुडो की कुट्टी-सी काट दी थी, उन्हीके पतिहता हाथो ने ऐसे सुस्वादु देव-दुर्लभ भोजन मे रस घोला होगा? मोयनदार पूडिया, खस्ता कचौडिया कद्दू का वह शाक, जिसके बिना पूडी कचौडियो का व्यक्तित्व ही अधूरा रहता है, रायता और चटनी, भला किस सुगृहिणी एव सुपाचिका को आज उन्होने बुरी तरह नहीं पछाड दिया था? फिर उन पत्थर की चौकियो पर धरी चमकती कासे की थालियो मे क्या सहज ही मे पूडी-कचौडिया उतरती थी? यह तो उनकी दयालु डॉक्टरनी बाई, और सहृदय अधीक्षक की कृपा थी, जो आज उन्हे मनचाही रसद जुट गई थी,

फिर दक्ष पाचिकाए भला कसर कर सकती थी ? फिर भी मैंने देखा, सम्मुख परसी थाली के वहुप्रतीक्षित व्यजनो को, वे न जाने कैसी खोई-खोई दृष्टि से देख रही थी, क्या पता, घृत पकवानो की मदिर सुगध उनके स्मृतिद्वार की ज़ग लगी साकलो को एकसाथ खटखटाने लगी हो ? न जाने कितने भूले-बिसरे विवाह-भोज, मुडन-जनेऊ, सत्यनारायण की कथा और गौनो मे चढे कडाहों मे तैरती फूली-फूली पूडियो की स्मृति, गह्वर बन उनके कठ मे अटक गई हो !

"खाना शुरू करो, तब हम भी खाएगी," डॉक्टरनी ने हसकर कहा और कतार की कतार सकपकाकर थालियो पर झुक गई।

उदार अधीक्षक की कृपा से उन वदिनियो को अनेक सुविधाए प्राप्त थी, फिर उनके सौभाग्य से, उनकी अधीक्षिका भी एक सहृदय सौम्य विदुषी महिला थी और उनकी डॉक्टरनी बाई, एक लवे अरसे से उनके साथ रह, अपराध पर ही शोध-कार्य कर रही थी। इसी से उनकी आधि-व्याधियो का लेखा-जोखा उनके जिह्वाग्र पर था, यही नही प्रत्येक वदिनी का इतिहास भी उन्हे कठस्थ था, और उन एक सौ अस्सी सहृदयो की धडकनें स्वय उनकी धडकनें बन गई थी। अपने सुदीर्घ अनुभव के वाचनालय मे सजी, उन रग उडी जीर्ण पुस्तको के पृष्ठ, वे न जाने कितनी वार उलट चुकी थी।

"वह जो अभी तक आपको पखा झल रही थी—हीरा नाम है उसका," उन्होने मुझसे कहा—"उम्र होगी अट्ठावन के लगभग, पर पिछली पद्रह अगस्त को आप इसका नाच देखती तो दग रह जाती। ऐसा लग रहा था, जैसे कोई वीस वर्ष की छरहरी नृत्यागना नाच रही है। जैसी ही लोच, वैसी ही मोहक नृत्यभगिमा, और लास्य कटाक्ष।" मैंने एक वार फिर उस नृत्य-प्रवीणा को देखा। झुर्रियो से

भरा एकदम स्याह चेहरा, किंतु उस स्याह चेहरे को अपने खद्योत प्रकाश से पल पल मोहक बना रही मधुर स्निग्ध हसी ! कभी मुझे पखा झलती, कभी पिलगट-सी फटकती भागकर, गर्म-गर्म पूडिया ले आती और मेरे लाख ना-ना कहने पर भी थाली मे डाल देती। यही नही, मैं हाथ धोने उठी तो पानी ही डालने नही बढ आई, झुककर उसने मेरे हाथ स्वय ऐसे धुला दिए जैसे मैं कोई अबोध बालिका हू और स्वय हाथ धोने मे कपडो को छीटे डालकर खराब कर बैठूगी। फिर मैं कुछ कहती, इससे पहले ही वह मेरे जूठे हाथो का पानी आचमन-सा कर पी गई।

"छि छि, यह क्या कर रही हो ?" मैंने कहा।

"बहूजी, पाप की गठरी ससुर बडी गरू है सिर पर। आप जैसे भले घर की बहू-बेटी का जूठा पानी इहा गगा-जल है हमारे लिए।"

मैं लौटकर मेज़ पर आई और आते ही डॉक्टर से उसका इतिहास पूछा तो स्तब्ध रह गई, आज दूसरे घर की बहू-बेटियो की जूठन का आचमन करनेवाली हीरा, वर्षो पूर्व अपनी बालिका पुत्र-वधू को उसीके पति की सहायता से ज़िदा जला चुकी थी। पुत्र को हुई थी फासी, किंतु उसे फासी की सजा से भी अधिक कठोर प्राणदड मिला था, आजन्म कारावास ! इकलौते पुत्र की मृत्यु और जघन्य पाप का बोझ, फासी का अदृश्य फदा बन, वर्षो से उसका गला घोट रहा था और न जाने कब तक घोटता रहेगा ! और फिर सावली उदास बडी बडी आखोवाली लडकी, जो एक प्रकार से स्वय निरपराधिनी थी, किंतु तीन भाइयो की कुटिल साज़िश के चक्रव्यूह मे फसकर भाग्य का लिखा भोग रही थी। फौजदारी की सज़ा काट

कर, जब वह इस बिरादरी से विदा लेगी, तो अनेक आखे गीली होगी, इसमे कोई सदेह नही। उसकी सुघड सिलाई ने उसे पूरे कारागार की ड्रेस-मेकर बना दिया था। जोगिया की ड्रेस मे वह ऐसे-ऐसे गुलाब गूथकर रख देती थी कि मन करता था, उठाकर सूघ लो। उसपर कपडो की सिलाई मे तो वह सचमुच ही सुई तोडकर रख देती थी। अपनी सुरुचि की बेजोड बखिया मे, वह सन्त्रियो की झूले-सी जेल की आकारहीन कुरतियो मे, अत्याधुनिका फ्रेच मॉडल के 'वॉटी स्टार्किग' की मरीचिका उभार देती। सजा मिलते ही प्रत्येक बदिनी के आभूषण उतरवा लिए जाते है और एक सी सादी धोती-कुर्ती मे, किसी प्रकार की भी साज-सज्जा की गुजाइश नही रहती। प्रत्येक बदिनी को केवल अपने सौदर्य के ही मूलधन पर बडी बुद्धिमानी से काम चलाना पडता है। इधर-उधर दृष्टि घुमाने पर भी मुझे कही एक दर्पण नही दिखा तो मन भर आया यह तो किसी भी नारी के लिए प्राणदड से भी कठोर सजा थी। किंतु दर्पण के अभाव मे भी, अनेक चेहरो पर, प्रतिबिंब देखकर सवारी गई लुनाई के स्पष्ट हस्ताक्षर थे। सलीके से निकाली गई माग, काली बिंदी, जो सभवत जली लुकाठी के औदार्य से जुटाकर अनेक ललाटो की शोभा बढा रही थी, और आखो को कर्णचुबी बनाने की सुचेष्टा भी टेढी-मेढी होकर कही नही फैल पाई थी। यह सज्जा भला बिना दर्पण के कैसे सभव हुई होगी ? मै यह सोच ही रही थी कि रहस्य स्वय स्पष्ट हो गया। एक साबली ताड-सी लबी युवती जल से भरी बाल्टी मे झुककर अपना प्रतिबिंब सवार रही थी। मुझे देखकर सकपकाती बाल्टी उठाकर चौके मे चली गई। नारी-सुलभ शृगारप्रियता को क्या आजन्म कारावास भी कही छीन सकता है ?

जली लकडी के कालिख से बनी कज्जल रेखा, कोयला पीसकर बनाई गई मिस्सी या लाल गुलाब की पखुडी काटकर बनाई गई टिकुली, क्या जल-पूरित घट दर्पण देखकर नही सवारी जा सकती ? खाना खाकर, मैं अधीक्षिका के साथ विभिन्न कमरो को देखने निकली। दिन-दहाडे भी कैसी मध्यरात्रि की-सी भयावह निःस्तब्धता थी। मोटी-मोटी लोहे की छडो से घिरी चौडी खिडकिया और दृष्टि की पहुच से बहुत दूर छिटक गया आकाश, जिसे देखने चहारदीवारी से चढती आखे स्वय ही थक, परास्त हो फिर नीचे पसर जाती थी। विशाल कमरे की डॉरमेटरी मे दूर तक बिछी, पत्थर की कब्र-सी शिलाए। उनपर काले खुरदुरे कबलो मे लिपटा, प्रत्येक बदिनी का बिस्तर, बडे सलीके से रखा गया था।

मैं सोचने लगी, दीवारो पर लिखी गई 'रघुपति राघव राजा-राम, पतित पावन सीताराम' की ये पक्तिया क्या रात्रि की उस निस्तब्धता मे इन अभागिनियो को शाति दे पाती होगी ! जब उन शिलाओ पर, अभिशप्त मस्तक धरते ही उनके जघन्य अपराध, डरावने दुःस्वप्न बन तक्षक नाग की-सी घातक कुडली मार, उनकी छातियो पर बैठ, इनका गला घोट देते होगे और फिर इनके अपराध भी क्या साधारण थे ? प्रेमी के लिए काटा गया पति का मुड, जिदा जला दी गई पुत्रवधू डकैती मे की गई कुपुरुषोचित नृशस लूटपाट, अबोध बालिकाओ को फुसलाकर हाट-बाजार मे बेचने का दुःसाहस, भ्रूण-हत्या और फिर एक ऐसा अमानवीय अपराध, जिसे सुन मेरे रोगटे खडे हो गए थे।

दो सगी देवरानी-जेठानी, कुछ ही समय पूर्व तक एकसाथ, इसी कारागार मे आजन्म कारावास की सजा भुगत रही थी। किंतु दोनो

की नित्य की कलह, कभी भी गभीर रूप ले सकती थी। इसीसे एक को नैनी जेल मे भेजे जाने का अनुरोध किया गया था। यदि ऐसा न किया जाता, तो यह सभव था कि अवसर पाते ही उनमे से कोई भी एक बार फिर हत्या मे सधे अपने हाथ का चमत्कार दिखा सकती थी। अब, जेठानी का स्थानातरण कर दिया गया था।

उनकी कहानी जितनी ही रोचक थी उतनी ही भयावह। वर्षों से चल रहे मनोमालिन्य ने, पहले जेठानी को ही रणचडी बनाकर, जीवन-रगमच पर भेजा। देवर समृद्ध था और शृगारप्रिया देवरानी पति की समृद्धि का उन्मुक्त प्रदर्शन कर, दिन-रात जेठानी का जी जलाया करती। कभी तिलडी, तो कभी पचलडी, कभी हसुली तो कभी हमेल। दोनो भाइयो की आर्थिक असमानता ने सहसा विकट रूप धारण कर लिया। फिर जेठानी पर एक दिन शैतान सवार हो गया।

जिन गर्दन पर हुलसती पचलडी का देवरानी को इतना गुमान था, क्यो न उस गर्दन को ही साफ कर दिया जाए ? वास और दानुरी को एकसाथ साफ करने के दुष्परिणाम की उसे कोई चिन्ता नही थी, देवरानी की नृशस हत्या के अपराध मे जेठानी को मिला प्राणदड, किन्तु गोद के दूध-पीते शिशु को देखकर ही फासी का फदा खीच लिया गया, अबोध शिशु पुत्र भी मा के साथ आजन्म कारावास भुगतने लगा। जेल के नियमानुसार, छह वर्ष की आयु तक उसे भी अपनी मा के साथ कारागार के आतिथ्य का भागी बनना पडा। इस बीच विधुर देवर ने अपनी साली से विवाह कर लिया था। इधर इसका पुत्र भी छह वर्ष का होते ही घर भेज दिया गया था। बड़ी बहन की हत्यारिणी जेठानी के अपराध को बडे सरल औदार्य से भुलाकर, उनकी नई चाची उसे बडे लाड-दुलार से पाल रही थी कि सहसा अग्नि-गर्भा जेठानी, पैरोल पर छूटकर फिर घर पहुच गई। पुत्र लाख बुलाने पर भी जेल से छूटी जननी के निकट नही गया। चाची

का आचल पकड, छिप गए पुत्र को देखकर, जेठानी की हाडमज्जा भस्म हो उठी । जिन आभूषणो से दमकती देवरानी की ग्रीवा को उसने मूली-सा काट दिया था, वह तो जैसे फिर उसी धड पर उग आई थी ! फिर इस बार तो उस धड का दुस्साहस और भी बढ गया था। इस बार तो अभागी ने उसकी कोख का बेटा ही उसका दुश्मन बना दिया । जाने की वेला निकट आई, तो वह क्रोध और विवशता के अधड मे भटकती एक बार फिर अधी बन गई । जेल के परिवेश की सान मे जिह्वा की कतरनी उसने ऐसी तेज बना ली थी कि घर-भर के लोग एक-एक कर उसके जिह्वा-प्रहार से घायल हो चुके थे । अब उसने देवरानी को खूब जली-कटी सुनाई ।

“जैसे तेरी बहन को साफ किया ऐसे ही एक दिन आकर तुझे भी साफ कर जाऊगी, समझी ? खबरदार जो मेरे ननकू को फुसलाया । मैं क्या नही समझती कि तू उसे दूध-जलेबी खिला-खिलाकर क्यो फुसला रही है ? चुपचाप किसी दिन कत्ल कर देगी उसका ।” यह सुनते ही उसके नन्हे पुत्र ने स्नेही चाची से कन्नी काट ली । चाची का क्रोध उतरा नन्हे भतीजे पर । जेठानी वापस जेल पहुची भी नही थी कि बेटे का कत्ल हो गया ।

हत्या की थी स्वय चाची ने । फिर विधाता ने न जाने क्या सोचकर दोनो को प्राणदड से भी अधिक कठोर दड दे दिया, एकसाथ एक ही कारागार मे आजन्म कारावास । यह सचमुच ही दोनो के लिए बडी भारी सजा थी । उठते-बैठते, दोनो एक दूसरे को अदृश्य भाले-बरछियो से छेदने लगी । अब जेठानी नैनी जेल भेज दी गई थी, किन्तु पश्चात्ताप का असाध्य कैंसर देवरानी को घुला रहा था ।

“इससे तो मुझे फासी ही मिल जाती तो अच्छा था, रात-रात को

उठकर बैठ जाती हू कान के पास आकर दुश्मनिया कहने लगता है—'चाची, ओ रे चाची !'"

सुना—जिस कमरे मे उसने बालक की नृशस हत्या की थी, वहा इतना अधेरा था कि दिन मे भी पुलिस ने मशाल जलाकर लाश के टुकडे बरामद किए थे ।

किन्तु उसी कारागार मे पश्चात्ताप की ज्वाला से अछूती बदिनिया भी है ।

एक कमरे मे हाथ बाधे राजमहिषी-सी खडी ऊची अगली नाजमती ने मुझे देखते ही बडी अवज्ञा से, उदासीन दृष्टि का थप्पड-सा मार, अपनी मराल ग्रीवा फेर ली । क्या रग था और कैसी खड्ग के धार-सी नासिका । उसके उसी अभद्र अशिष्ट आचरण के कारण सभवत उस दिन सहभोज मे सम्मिलित नहीं किया गया था । सकस की किसी अवशिष्ट सिहिनी-सी ही वह खूखार नरभक्षिणी कभी भी दर्शको पर झपट सकती थी । इसीसे उसे बाहर रिंग मे लाना शायद अधिकारी वर्ग को खतरे से खाली नही लगा होगा । उन कजी आखो मे एक हिंस्र, वन्य लपट देखकर मैं काप गई, उसे सहभोज से वचित रखा गया था, किन्तु उस सामान्य दड से, सुन्दर चेहरे पर एक शिकन भी नही उभरी थी । यह तो कारागार नही, जैसे महाराजा छत्रसाल की पटरानी का अन्त पुर था, और असख्य अदृश्य चेरी बादियो से घिरी बैठी रानी सरकार, प्रभुता के मद मे घमती, टहल रही थी । पहली झलक मे मुझे वह बीस वर्ष की युवती सी ही छरहरी लगी, किन्तु गौर से देखे जाने पर उस छलनामयी गतयौवना का बहुरूपी उत्तरीय खिसक गया । इस बार शायद, उसके नारी-सुलभ औत्सुक्य ने उसके बनावटी गाभीर्य पर विजय पा ली । कनखियो से वह भी हमे देखने

लगी और उस काकदृष्टि मे, कुटिल चेहरे की एक-एक माज, स्वय खुलती चली गई। व्यग्यात्मक वक्रिम स्मित मे उसके क्रूर स्वभाव के द्योतक पतले अधर खिचकर रह गए, जैसे पूछ रही हो—क्यो, क्यो देखने आई हो हमे ? क्या हम किसी चिडियाघर के नुमाइशी पशु-पक्षी हैं ?

जैसा जीवन जिया हो उसकी छाप मानव के चेहरे को सचमुच ही अपने रग मे रग देती है, इसमे कोई सदेह नही। मिस्सी लगे दातो की क्षणिक चमक, नुकीले तेवर, ठोडी का गोदना और कजी आखो मे छिपी कुटिल बरछियो की झलक दिखाकर, उसने फिर पीठ फेर ली। मैं आगे बढ गई।

“अब भी इस उम्र मे इतनी सुन्दर है, तो अपने यौवन काल मे यह कितनी सुन्दर रही होगी ” मैंने उनकी अधीक्षिका मे कहा, तो वह हसकर बोली—“सुन्दर ? काश, इसके सुन्दर चेहरे-सी ही सुन्दर इसकी केस हिस्ट्री भी होती। किन्तु वह तो है एकदम विपरीत, कदर्य कुत्सित ही नही, कलकमडित। न जाने कितनी डकैतियो मे डाकुओ की निर्भीक सगिनी बन, वह कितने ही हरे-भरे घर उजाड चुकी थी। यही नही अब भी उसके प्रशसकों का अभाव नही था। सबसे अधिक मिलनेवाले इसीके पास आते है। इससे बीस वर्ष छोटा एक सुदर्शन ठाकुर, अभी कुछ ही दिन हुए, इससे मिलने आया था, टोकरी-भर मेवे लेकर, इतने सारे मेवे, एकसाथ किसी भी बदिनी को नही दिए जा सकते, हमने कहा—कारागार के नियमानुसार आप इसे केवल अभी खाने-भर की सामग्री दे सकते हैं। तब हसकर, इसके छोकरे प्रेमी ने, अपनी ही उपस्थिति मे इसे सारे मेवे खिला दिए।” मुझे उस प्रत्युत्पन्नमति पठान की कहानी का स्मरण हो आया, जो साथ

मे एक मोटा दुबा लेकर यात्रा कर रहा था। टिकट चेकर द्वारा दुबे का टिकट मागे जाने पर उसने तत्काल वही दुबे को काट-कूट उदरस्थ कर लिया था। निश्चय ही उन प्रौढ कपोलो की लालिमा मे उन पौष्टिक मेवो की ललछौही आभा एक लबे अर्से के लिए स्थिर रह गई थी।

"अभी तो आप उससे मिली ही नही।" दक्षिणी डाक्टरनी का आनदी चेहरा बचकाने उत्साह से रग गया। मुझे भी जैसे उस उत्साह की छूत लग गई और मैं उतावले कदमो से चौके की ओर बढी। छोटा-सा धुए से भरा चौका—किसी भी सुगृहिणी के चौके-सा साफ-सुथरा और पकवानों की सुगध से सुवासित था। एक बडी-सी कडाही मे घुटनो तक धोती चढाए दो लबी तातार-सी औरतें पूडिया तल रही थी। सहसा धुए की कुहेलिका को चीरती वह अपने दो गुलगोथने हाथ जोडकर खडी हो गई।

"यह मेम साहब, तुम्हारे ही देश से आई है चनुली," उसकी अधीक्षिका ने कहा और उसने एक लजीले दृष्टिपात से मुझे बीधकर आखे झुका ली।

"क्यो चनुली, किस गाव की हो तुम ?" मैंने हसकर पहाडी मे पूछा। पर मैं क्या जानती थी कि उसके बिछुडे देश की भाषा मे पूछा गया मेरा निर्दोष प्रश्न नश्तर बन उसी क्षण उसके पके नासूर को बेरहमी से चीर देगा।

दोनो हाथो से मुह ढापकर वह फफक-फफककर रोने लगी तो मैं अप्रस्तुत हो गई।

"बहुत दिनों बाद आपके मुह से अपनी भाषा सुनकर ही

शायद बेचारी अपने को रोक नही पाई। वैसे यह कभी रोती नही।" डॉक्टरनी ने अंग्रेजी मे कहा और फिर बडे चातुर्य से प्रसग बदल दिया – "अच्छा, चलो तो चनुली, हमको काम है, तुम मेम साहब को स्कूल और पूरी जेल दिखा लाओ।"

मेरी अनजान उपस्थिति मे अचानक ऐसे टूटकर बिखर जाने से चनुली जैसे मेरी ओर आखें उठाकर देख नही पा रही थी। आखें पोछकर नीची नजर किए ही बोली, "आइए!" और मैं नि शब्द उसके पीछे-पीछे चलती एक बार फिर जेल की परिक्रमा कर गई। बच्चो की कक्षा देखी तो मन भर आया। किन्तु क्या यह सचमुच बच्चे थे। छह वर्ष के भोले निष्पाप चेहरो पर छब्बीस वर्ष के अनुभव की छाप थी। बेरौनक-उदास चेहरो मे जडी पीली आखो मे क्षण-भर के लिए किसी दम तोडती टार्च के नन्हे-नन्हे बल्ब की-सी ही चमक आई फिर दप-से बुझ गई। नन्हे नन्हे हाथ हिला-हिलाकर, उन्होने मुझे कविता सुनाई, गाने गाए, चाबी खतम हो रहे लट्टू की भाति एक-दो ने गोल-गोल घूम सक्षिप्त नृत्य प्रदर्शन भी किया, किन्तु मुझे लगा, वर्षों पूर्व बचपन मे देखे राजस्थानी कठपुतलियों के किसी कठपुतले का नाच फिर देख रही हू, जो बार बार मरने का अपूर्व अभिनय करता, भडाम से गिर, फिर उठ गले मे बधा स डिन का टीन पीट सीटियो से गाने लगता था—'थोडी-थोडी और बजेगी।'

छह वर्ष का होते ही जब उन्हे पिता या अभिभावको के पास भेज दिया जाएगा, तब जननी का यह अवाछनीय सान्निध्य क्यो उनके लिए अनिवार्य है, मेरी समझ मे नही आया। कैसा ही आदर्श कारागार क्यो न हो, इन अबोध शिशुओ के कोमल मन पर क्या इस परिवेश की छाप सदा के लिए नही पड जाती होगी?

मैंने एक बार फिर उन्हे देखा और सहमी दृष्टि फेर ली। मुझे लगा जैसे फूलदान मे यत्न से लगाए गए उन कोमल पुष्पो की पखुडिया छूते ही झरकर बिखर जाएगी।

“शायद आप चनुली से एकात मे बातें करना चाहेगी,” दयालु जेलर मुझे अपने कमरे मे छोड आई। छोटा-सा साफ-सुथरा हवादार कमरा चारो ओर से खुला था। चनुली चुपचाप मेरे पैरो के पास आकर बैठ गई, जैसे मेरी बहुत दिनो की बिछुडी पालतू बिल्ली हो।

नि स्तब्ध कमरे की नि सीम शून्यता के बीच मैं थी और मेरे पैरो के पास बैठी चनुली। ठीक ही कह रही थी अधीक्षक की पत्नी। जैसा ही रूप है वैसा ही सौम्य आचरण! आश्चर्य होता है कि ऐसी सत बालिका ने भी किसीके प्राण लिए होगे। चनुली का करुण इतिहास, मैं उन्ही से सुन चुकी थी, पर स्वय चनुली के मुह से सुना तो फिर कुछ कह नही सकी।

उत्तराखड के सीमावर्ती आसपास बसे दो ग्रामो मे ही उसका मायका और ससुराल थी। विवाह हुआ था स्वय पति की इच्छा से। अपने सीढी से बने खेत पर खडे उस बाके कुमाउनी जवान ने सुदरी चनुली को बकरिया चराते देखा था। निर्णय लेने मे उसने फिर विलब नही किया। किन्तु पुत्र जब जननी को पुत्रवधू-चयन के जन्मजात अधिकार से वचित करने की धृष्टता करता है, तो कभी पढी-लिखी जननी का चित्त भी विद्रोह कर उठता है, फिर वह तो एक अपढ ग्राम्या मा थी। विवश होकर बहू ले तो आई, किंतु उसे स्वीकार नही कर पाई। आए दिन गृह-कलह की आतिशबाज़ी से ग्राम का आकाश रगीन बनने लगा और आनद उठाने के लिए प्रतिवेशी परिवारो की भीड जुटने

लगी। इसी बीच सीमात के चीनी युद्ध ने नवेली चनुली के फौजी पति को भी बुला लिया। वह गया और फिर नही लौटा। पुत्र की अकाल मृत्यु ने कर्कशा सास को जीती-जागती तोप बना दिया और वह दिन-रात आग उगलने लगी, "कुलच्छिनी तूने ही मेरे बेटे को खा लिया।" चनुली की एक प्रतिवेशिनी उसकी सास के तोपखाने के लिए नित्य बारूद जुटाती थी। सुबह-सुबह चनुली नई दराती लेकर घास काटने निकली तो वही झगडालू पडोसिन जानबूझकर ही उसके पीछे हो ली। मार्ग-भर वह उसको छेडती गई। छौंक लगा रही थी उसकी अन्य सखिया। चनुली ने गले का मगल-सूत्र और नाक की फुल्ली न उतारने की धृष्टता की थी। इसीसे नारी वर्ग ने उसका सामाजिक बहिष्कार कर दिया था। अभियान की अगुवा थी वही कर्कशा प्रतिवेशिनी। "यह शृगार क्या राड-रडकुली औरत को शोभा देता है ? यहा बुढिया बेटे के लिए पागल हो रही है। यहा इस मुई का यह चरित्तर है।"

"दिदी" चनुली का गला रुध गया, "मेरा मन कहता था कि वे जिंदा हैं, और मेरा मन कभी झूठ नही बोलता, इसीसे मैं चरयो, फुल्ली नही उतारती थी और क्या मैं सजने-धजने के लिए यह सब करती थी ? फिर उसी रात को, मैंने उन्हें अपने मे देखा था। मन भारी था, उसने मुझसे ऐसी बात कह दी तो मैं क्रोध से पागल हो गई, खींचकर मैंने दराती उसकी ओर फेंकी, मैं क्या जानती थी दिदी, कि एक ही चोट मे उसकी गर्दन ऐसे लटक जाएगी ?"

चनुली ने अपनी निर्दोष आखें मेरे चेहरे पर गडा दी, यदि मैं न्यायाधीश होती, तो उसी क्षण उन निर्दोष आखो की गवाही ही को सत्य मान, उसे मुक्त कर देती। कैसा भोला निष्पाप चेहरा था, और निष्कपट कौमार्य का कैसा सरल आत्मनिवेदन !

"फिर ?" मैंने सास रोककर पूछा, "फिर खून का फव्वारा-सा छूटता देख, मैं भागकर घर आ गई, पर सबने तो मुझे देख लिया था। उसी दिन मुझे अल्मोडा ले जाया गया।"

"क्यो किसीने क्या तुम्हारी ज़मानत नही दी ?" मैंने पूछा।

"मेरी ज़मानत कौन देता ?" उसने एक लम्वी सास खीचकर कहा, "मैंने खून किया था, वह भी वरमहत्या। वह ब्राह्मणी थी, अकेली मेरी मा ही रोती-रोती वस के पीछे वहुत दूर तक भागती आई थी।

"फिर मुक़द्दमा चला, मुझसे बार-बार पूछते, 'तुमने उसे दराती मारी थी ?' 'हा जी, मारी।' मैं कहती। 'तव तुम जानती हो लडकी, कि तुम्हीने उसका खून किया है,'—'नही साव, मैंने खून नही किया, वह तो मुझमे हो गया।' "

उसने फिर वडे भोलेपन से, अपने कथन को पुष्टि के लिए, मेरा हाथ कसकर पकड लिया।

"आप ही वताइए दिदी, मैं झूठ बोलती ? खून क्या मैंने जान बूझकर किया था ? वह तो मुझसे हो गया था।" यह जो 'मुझसे हो गया' की मिठास और निरीह भोली कमनीयता पहाडी भाषा मे है, उसे ग्राह्य करने की क्षमता यदि उस न्यायाधीश मे होती, तो निश्चय ही वह उसे छोड देता।

पुण्यतोया भागीरथी सलिल-से पवित्र अश्रुजल से छलछलाते, विकसिताबुज नेत्रपत्र, पद्रह दिन के सक्षिप्त हनीमून की मधुर स्मृति का उल्लेख करते ही थरथरा रहे रसीले अधरद्वय और सुडौल काचन-सन्निभ देहयष्टि ! एक अकेली चनुली ही उस कारागार को, ज्योति-पुज वन, आलोकित कर सकती थी। वह अव जेल की सर्वश्रेष्ठ सुदरी ही नही, अपने अनुकरणीय आचरण से, अपूर्व लोकप्रियता भी प्राप्त कर चुकी थी। इधर उनके उदार अधीक्षक ने वडे साहस से उन्हे गार्डिंग की सुविधाए भी उपलब्ध करा दी थी, नीली साडी और

गार्डिग का विल्ला लगाए, मुडे कफ की कुर्ती मे, चनुली किसी द्युतिमान तारिका से कुछ कम आकर्षक नही लगती थी। उसे पहले प्राणदड ही मिला था क्योकि उससे अनजाने मे हो गई हत्या भी नृशसता के दायरे मे आती थी। छिन्नमस्ता प्रतिवेशिनी ने अपनी गर्दन धड से दूर छिटका, उससे चलते-चलते भी प्रतिशोध ले लिया था। किंतु उस कमनीय चेहरे की लुनाई ने स्वय ही उसकी पैरवी की। ससार का कौन जल्लाद, भला उस चेहरे पर नकाव की यवनिका डाल, फासी का फदा खीच सकता था ? आजन्म कारावास का काला कवल ओढ, वह पहले नैनी रही, फिर अपने सौम्य आचरण का पासपोर्ट दिखाकर, आदर्श कारागार मे प्रवेश पा गई। इसी वीच, किसी हिन्दी फिल्मी नायक की भाति उसका प्रणयी पति सहसा आकर उपस्थित हो गया। पद्रह दिन की सहचरी के क्षणिक साहचर्य की मादक स्मृति उसे पागल वना गई, उसने उच्च न्यायालय मे अपील की। यदि दयालु न्यायाधीश उसकी पत्नी को छोड दें, तो वह उसे ग्रहण कर लेगा। दोष उसकी पत्नी का नही था, उसकी कर्कशा प्रतिवेशिनी ने ही उसे उकसाया था।

एक विदेशी उक्ति है कि प्रेमी से समस्त विश्व प्रेम करता है, सुप्रीम कोर्ट ने चनुली की सजा चार वर्ष की कर दी। इस वीच वह वरावर अपनी वदिनी सहचरी को रसपगे आश्वासनपूर्ण पत्र लिखता रहा।

“क्या वह तुमसे मिलने भी आया ?” मैंने पूछा।

“नही, मेरी सास ने उन्हे आने नही दिया, मुझसे मिलने आते तो पूरे गाव को खिलाना पडता। पर उनकी चिट्ठिया ” अधूरे वाक्य के वीच ही उनका चेहरा गुलावी पड गया, दोनो घुटनो मे

सिर डालकर वह चुप हो गई, उसके अनकहे वाक्य से ही मैं समझ गई कि उन मधुर रसीली चिट्ठियो मे ही उसने अपने खोए पति को फिर पा लिया है। "किन्तु इधर दो सालो से उनकी एक भी चिट्ठी नही आई, एक बार जेठजी ही आए थे।"

"तुमने उनसे पूछा नही ?" मैंने कहा।

"पूछते कैसे दिदी, मुझे शरम जो आती थी।"

पहली बार, मैंने उसके पीले चेहरे पर मधुर लजीले स्मित की प्रेमछाया-सी देखी। उस अधेरे कमरे मे भोले चेहरे को क्षण-भर के लिए दर्शनीय बना गई उस मोहक मुस्कान को देख, मैं पलक झपझपाते ही समझ गई कि क्यो प्राणदड पा गई प्रेयसी को छुडाने, उसके पति ने अपील की होगी !

"मैं जानती हू दिदी, उन्होंने दूसरी शादी कर ली होगी, यही सोचती हू। दो साल तो कट गए हैं, दो साल और हैं। पर छूटकर कहा जाऊगी मैं ? कभी मिलते तो यही पूछती। जब ले ही नही जाना था तो मेरी सज़ा कम क्यो करवा दी ? अब तो यही मेरा मायका और यही ससुराल है। सच पूछो तो मुझे मायका ही लगता है। यहा जब आई तो पढना नही जानती थी, अब पढना सीख गई हू। दिन-भर तो काम मे कट जाता है पर रात नही कटती। चैत आता है तो सोचती हू, काफल पका होगा, घर-घर 'भेटुली' बन रही होगी। बैसाख मे सेब, खुमानी वाली हवा चलने लगेगी और माघ-पूस मे बरफ ही बरफ—कभी-कभी तो सारी रात बरफ ही के सपने दिखते रहते हैं।"

"चनुली, मैं इस गर्मी मे पहाड गई तो तुम्हारे गाव भी जाऊगी। कहती हो, अल्मोडा से दो घटे का रास्ता है। क्या नाम है तुम्हारे गाव का और तुम्हारे पिता का ?"

वर्फीली हवा के दिवास्वप्न भग हो गए। फलो से गदराए खुमानी, आड् के पेड सहसा मेरे प्रश्न के वज्रपात से धराशायी हो गए। उसका चेहरा फीका पड गया।

“जिस गाव से रिश्ता ही टूट गया उसका अव क्या नाम लू दिदी,” वह वोली, “वावू के नाम पर तो उसी दिन कालिख पोत आई, कसम खाई थी कि अव इस पापी मुह से उनका नाम कभी नहीं लूगी। पर और पता वता सकती हू। ब्राह्मण हैं, गाव के पधान हैं चौरवानी, पट्टू का भूरा कोट और काली गवरून का वद पाजामा पहनते हैं। ऐनक लगाते हैं, एक कमानी डोरी से वधी है। घर के दाई ओर की पगडडी शिवालय से होकर ठीक हमारे ‘ग्वाल’ मे उतरती है। सामने तीन मिहिल नाशपातियो के पेड हैं और पिछवाडे एक कागजी अखरोट का जगी पेड भी है।” चनुली ने, एक सास मे अपने ग्राम का पूरा नक्शा उगल मेरी ओर वडी आशा से देखा। फिर उसे लगा, शायद कुछ कसर रह गई है। रुक-रुककर वह फिर कहने लगी, “वावू मेरे एकदम गऊ हैं, शात, किसीसे कुछ नही कहते। देवरजी का भी जनेऊ नही हुआ। इसीसे दो चोटियो की लटी करते हैं, शक्ल इनसे वहुत मिलती है, पर रग इनसे वहुत गोरा है।”

फिर उसने धीमे स्वर मे पूछा, “अव तो आप ढूढ लेंगी ना ?”

पर क्या मैं ढूढ पाऊगी ?

उत्तराखड की गोरखधधे सी दुरूह ज्यामिति मे भूरा कोट और काले गवरून का वद पाजामा पहने उस गऊ-से शात पधान को क्या मैं सहज मे ढूढ पाऊगी, जिसकी तागे से वधी एक कमानी वाली ऐनक के नीचे धुधली आखो मे एक गोल पीले चेहरे का करुण चित्र वार-वार उभरता, विवश अश्रुजल के वीच डूव जाता है ? कुमाऊ

के असख्य घटो के बीच, क्या मैं उस घट को ढूढ सकूगी, जिसके दाईं ओर से मुड गई पगडडी, शिवालय से होती ठीक उस 'म्वाल' मे उतरती है, जहा सामने तीन मिहिल नाशपातियो के पेड हैं और पिछवाडे एक जगी कागजी अखरोट, जहा दो चोटियो की लटी लटकाए उसके 'गोरे देवरवा' का चेहरा एकदम उसके 'सावरे प्रीतम' से मिलता है ?

"और कुछ ?" मैंने अपनी विवशता को एक लबी सास से दबाकर पूछा "हा दिदी !" वह अब बडे उत्साह से मुझे अपने मायके की देहरी से अल्मोडा कचहरी की ओर खीच ले चली, "वहा से अल्मोडा कचहरी जाकर मेरा एक काम और कर देना। जब मुझे अल्मोडा से ले जाया गया, तो मेरे सब गहने खुलवा लिए गए थे, पर 'चरयो' (मगलसूत्र) मैंने नही खोलने दिया, नाक की फुल्ली उतारने लगे, तो मैं हाथ जोडकर बहुत गिडगिडाई, पर पटवारी ज्यू बोले, 'पगली, जेल मे क्या सोहाग-धरम का शगुन-अशगुन चल सकता है ? यह क्या आज तेरे ही गहने खोले जा रहे हैं ? यहा तो रानी-महारानी भी जेल जाए, तो उनके गहने भी खुलवा लिए जाते है ।' फिर फुल्ली उतारकर पत्थर पर धर दी तो मैंने पैर पकड लिए । आप तो पहाडी हैं, जानती ही होंगी कि सोहाग कही पत्थर पर धरा जाता है ?"

हा, मैं जानती थी, मगलसूत्र, लौंग या चूडी पत्थर पर धरे जाने का श्राप, कुमाउनी सधवा के लिए सबसे घातक श्राप है—'तेर चरयो ढुग मे धरी जा', इससे बडी गाली भला और क्या हो सकती थी ?

"तब पटवारी ज्यू ने कहा था, 'अभी सब गहने गिनती होकर रजिस्टर मे चढते ही तिजोरी मे धर देंगे, रोती क्यो है ?' तुम जरा

जाकर, अपनी आखो से देख लेना दिदी, मेरी फुल्ली ठीक मे धनी है या नही।"

अब तक जिस गह्वर को मैं वडी देर से घुटक रही थी वह सहसा कठनली मे एक मुक्का मारकर, बाहर निकलने को व्याकुल हो उठा। पति ने आखें फेर ली थी, हृदयहीन समाज के द्वार, वदिनी के मुक्त होने पर भी उसी निर्ममता से मुदे रहेगे, फिर भी सवा रुपये की फुल्ली के प्रति ऐसा मोह! क्या यह भोली सावित्री इसी फुल्ली के वल पर अपने सत्यवान को लौटा पाएगी ?

"मैंने सुना तुम वहुत अच्छा गाती हो चनुली। वहुत दिनो से पहाडी गाना नही सुना", मैंने करुण प्रसग का पृष्ठ स्वेच्छा से ही पलट दिया।

उसकी आखो मे एक अनोखी चमक आई, फिर उसने अपनी स्वाभाविक लजीली चितवन से मुझे देखकर आखें झुका ली।

"पन्द्रह अगस्त को, तुमने, सुना, एक वहुत ही वढिया पहाडी गाना गाया था, नही सुनाओगी क्या ?" मैंने उसे किसी वच्ची की भाति फुसलाया। वह कुछ झिझकी फिर पहाडी दुनाली मुरली-सी ही मीठी पतली आवाज कारागार के कठिन कपाटो से टकराकर गूज उठी।

पल्टनो को वाजो
वाजन लागो
झोला तमलोटा
सजन लागो
ओ मेरी इजा
पकै दे खीरा

लडना सू जाछ—

कुमय्या वीरा

पल्टनिया वाजा वजने लगा है, फौजी झोले-तमलोटो से सजा वीर रणवाकुरा युद्ध मे जा रहा है—अरी मेरी मा, तू जल्दी खीर तो पका दे तेरा कुमय्या वीर लडने जा रहा है।

उन सूजे पपोटों के नीचे झपकती रेशमी पलको मे पैर रखता क्या सचमुच ही उसका कुमय्या वीर खाकी वर्दी पहने परेड करने लगा था ?

वाहर लू की प्रचड लपटें उठ रही थी, किन्तु मुझे लगा, खुली खिडकी से मुट्ठी-भर देवद्रुमो की शीतल बयार, आकर विखर गई है। किसी छरहरी किशोरी-सी कृशोदरी 'सुआल' नदी को देखती मैं, नैनीताल से अल्मोडा जा रही वस मे वैठी हू। सामने है काकडी घाट की सुरम्य घाटी और घाटी की गोद मे विखरा देवालय। वस वल खाती चली जा रही है। सरल सहयात्रियो के बीच विखरी पोटलिया, पोटलियो के वीच विखरा सेव की पेटियो का वैभव और पेटियो की दरार से आती सेव की मादक सुगन्ध। दूर-दूर तक फैली पर्वत-श्रेणियो ही टकरा-टकराकर क्या वशी-सी मिट्ठी कठ की मधुर गूज उठ ही थी ? "पल्टनो को वाजो वाजन लागो, झोला तमलोटा माजन गो।" अचानक मैं चौंकी। कमरे मे क्या अव हम दोनो अकेली रह गई थी ? चनुली के मीठे स्वर का जादू, न जाने कव, कारागार की वदिनियो को उस कमरे मे खीच लाया था। मीठे स्वर के जादू ने, किसी चतुर मेकअप मैन की-सी तूलिका से एक-एक चेहरा रगकर वदल दिया था। काली हीरा, उदास आखो वाली माया, दातो मे सोने की कील ठुकी, पियौरागढ निवासिनी वाडर, सवके चेहरो पर अद्री-

केदार से लौट रही वैष्णवियो की-सी ही सात्त्विकी स्निग्धता उतर आई थी। मैं उठ गई।

“आप क्या इनसे दो शब्द नही कहेगी ?” अधीक्षक की हसमुख पत्नी ने मुझसे पूछा।

“नही,” मैंने गर्दन हिला दी, पक्षाघात के किसी आकस्मिक झटके ने मेरी वाणी हर ली थी। वाणी होती भी तो मैं किस भाषा मे उनसे दो शब्द कह सकती थी ? वहा जो भाषा ग्राह्य थी, आखो ही आखो मे, उसी भाषा के माध्यम से, मैं उनसे विदा लेकर बाहर आ गई। एक क्षण के लिए उन्मुक्त आकाश भी मुझे अनचीन्हा लगा। सामने की विराट ड्योढी फिर बन्द हो गई किन्तु खिडकी बद होने से पहले मेरी उतावली दृष्टि स्वय ही मुद रहे कपाटो पर जड गई। दो अश्रुसिक्त आखो को पहचानने मे मैंने भूल नही की।

“दो साल और है दिदी, फिर मैं कहा जाऊगी ?” उसका प्रश्न बार-बार मेरे कानो मे बज रहा था। वर्षों पूर्व, आश्रम के लोकप्रिय नेत्रहीन गायक कालू ने छातिमतला की सगीत सभा मे अपने एक अपूर्व गीत से श्रोताओ को झुमा दिया था, आज उसी मिश्री घुले कठस्वर की स्मृति मुझे चनुली की अश्रुसिक्त आखो के मूक प्रश्न का उत्तर सुझा गई।

छिन्न शिकल पाये नीयै।
रे पाखी
जा उडे, जा उडे, जा रे एकाकी
(अरे पछी—
छिन्न शृखला पावो मे लेकर।
तू अब एकाकी ही उड जा)

छिः, मम्मी, तुम गंदी हो

कैसा आश्चर्य था कि उसके नाम का पावन स्पर्श भी उसके व्यक्तित्व को उस कलक से नही बचा पाया। बचाता भी कैसे ? स्वय, इस जानकी ही ने तो अपने जानकीवल्लभ को, महाप्रयाण के लिए ढकेल दिया था। मैं बडी उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा कर रही थी, किन्तु एक ही आशका मुझे बार-बार विचलित कर रही थी। इस बार मैं अकेली नही थी, कारागार की सुरक्षा-व्यवस्था [illegible] ही अधिक सतर्क थी, इस परिवेश मे, क्या मुझे मेरे प्रश्नो [illegible] स्वाभाविक उत्तर मिल पाएगा ? कौन नारी, भला अपना हृदय किसी दूसरी नारी के सम्मुख खोलने के पूर्व एकान्त की कामना नही करती ?

चैत्र नवरात्रि की प्रथम पावन तिथि थी, और मैं उन लोह-कपाटो मे स्वेच्छा से मुदी बैठी थी। कहा जाता है कि सवत्सर का पहला दिन जैसा कटे, वर्ष-भर फिर वैसा ही कटता है। एक अजीब-सी दहशत से मैं काप उठी। पर जानबूझकर ही, इस चिलमिलाती

प्रखर दुपहरी मे, मैं चुम्बक से खिची-सी चली आई थी। जानकी की कहानी मैं सुन चुकी थी और उसमे मिलकर, अब उसके मुह से, उसके दुर्भाग्य का इतिहास, मैं एक बार फिर सुनने को ललक उठी थी। वह आई तो मैं चौक गई। ओह! तो यही थी जानकी। मेरी दृष्टि, उसके गोल चेहरे से फिसलती घुटनो पर धरे उसके चौकोर करपृष्ठ पर निबद्ध हो गई। यदि उसका चेहरा न दिखाकर कोई मुझे उसके दोनो हाथ ही दिखाता तो मैं सोचती, यह किसी स्वस्थ उद्दण्ड किशोर का पजा है, जिसे उसने बडे यत्न से पजा लडा-लडाकर, पुष्ट बनाया है, किसीको एक झापड धर दे, तो दिन मे भी सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल दिख जाए। गेहुआ रग, मझोला कद। और इसमे कोई सन्देह नही कि उसकी देह का सौन्दर्य ही उसका ऐश्वर्य था। कारागार के कठिन परिवेश मे भी, उस पुष्ट उज्ज्वल यौवना की देहलता मे नित्य नवीन कल्ले फूट-फूटकर लहरा रहे थे। कपोलो पर थी किसी सैनेटोरियम की सद्य मुक्ता रोगिणी की लालिमा, आखो से आखें न मिला पाने की दुर्बलता, बार-बार घनी पलको को झपका रही थी। गाधीजी ने कहा है—अपराधी का अपराध उसके चेहरे पर लिखा रहता है, और इस बार उस लिखावट को पढने मे मुझे प्रयत्न नही करना पडा, फिर भी मै मानव स्वभाव की दुरूह भूलभुलैया मे भटककर रह गई। न उस उत्फुल्ल चेहरे पर क्लान्ति, अवसाद या चिन्ता की क्षीण रेखा थी, न चचल चितवन मे जीवन के कटुतम अनुभव का कोई भी स्मृति-चिह्न। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पाप पापेनेति'—मनुष्य पुण्यकर्म से पुण्यवान एव पापकर्म से पापी होता है, ऐसा हमारे धर्मग्रन्थ कहते है, तब क्या इस अभागी ने भी, पापकर्म से प्रेरित

होकर ही पाप का वरण किया था ? जिसका अगूठा पकडकर उसने पवित्र अग्नि के फेरे किए थे, जिसके साथ वह एक दिन लाल चूडे चमकाती दुलहन सजी चली आई थी, उसीकी गर्दन गडासे से विलग करने का आदेश क्या इस भोली युवती ने सचमुच ही अपने प्रेमी को दिया होगा ?

क्या घुटनो पर हाथ धरे, मेरे सम्मुख बैठी इस सरला सलोनी ने एक अधेरे गोदाम मे अपने छोकरे प्रेमी को मशीन की धार मे तेज़ किए गए गडासे सहित दो दिन तक छिपा, उसी छत के नीचे अपने शयन-कक्ष मे मदालस पति की उसी गर्दन मे बाहे डाल प्रेम का अपूर्व अभिनय किया होगा, जिसे कुछ ही घण्टो की अवधि मे गन्ने की गडेरी-सी काट देने की कुमन्त्रणा वह स्वय अपने प्रेमी को दे आई थी ।

अविश्वास से मैंने फिर देखा । निरीह-भोली चितवन, यौवन से गदराई देह, पृथुल चेहरे पर मासल चिबुक की परतें । उसकी यह छवि किसी भी प्रणयी पुरुष को रिझा सकती थी । "तुम्हारी कहानी तुम्हीसे सुनने आई हू," मैंने हसकर भूमिका बाधी ।

पहली बार आखें उठाकर उसने मुझे देखा, और हस पडी । इस बार मैं अप्रस्तुत हो गई । ऐसी निश्छल, उज्ज्वल, निर्दोष हसी के लिए मैं प्रस्तुत नही थी । यत्न से भुलाए जा रहे उसके जघन्य अपराध की स्मृति के गडे मुर्दे उखाडने का मेरा दु साहसी अनुरोध उसे ऐसे गुदगुदा देगा, इसका मुझे स्वप्न मे भी आभास नही था । मैं तो सोच रही थी, एक लम्बी सास खीचकर वह या तो चुप बैठी रहेगी या रोने लगेगी किन्तु वह तो सचमुच ही हस रही थी । उसकी उज्ज्वल हसी, उसके विलासी गठन के अधरो मे छलकती, उसने

पूरे आमोदी चेहरे को रससिक्त कर गई। उसकी स्वच्छ दन्त-पक्ति, निश्चय ही उसके साधारण चेहरे का, एक असाधारण आकर्षण थी। लाल-लाल मसूढो पर, एक पक्ति मे सजी दन्त-दशन-द्युति, देखनेवाले की आखें बाध लेती थी। आजन्म कारा-वास का दण्ड सिर-माथे पर लेकर, वह जब यहाँ आई थी, तब भी क्या ऐसे ही हस पाई होगी ? समाज की, आत्मीय स्वजनो की, यहा तक कि स्वय अपने गर्भ की सन्तान की घृणा, लाछना और अपमान की थुडी-थुडी से सनी, वह इस जगी ड्योढी के सम्मुख नतमुखी खडी हुई थी। अबोध सात वर्ष की पुत्री की भर्त्सना, अभी भी उसके कानो मे गूज रही थी—'छि ममी, तुम गदी हो।'

किस भावना से प्रेरित होकर, उसने ऐसा कहा था ? क्या अचानक नीद से जगकर उसने रक्त-कुण्ड मे पडे पिता को देख लिया था, इसलिए ? या ममी रसोई मे स्टोव पर जिस अकल के लिए चाय बना रही थी, उसने उसे देखकर दोनो हाथो मे चेहरा छिपा लिया था, इसलिए उसका आक्रोश जननी पर उतरा था। 'यह कौन है ममी ?' उसने पूछा था।

'तुम्हारे अकल जी है बेटी।'

'नहीं, ये मेरे अकल जी नही है, तुम गदी हो ममी।' अबोध बालिका, जैसे न्यायदण्ड सम्भालकर स्वय न्यायाधीश बन गई थी।

अपनी बच्ची की यही बातें बताती, वह अब एकदम ही पैंतरा बदल चुकी थी। सिमटी, गठरी-सी बन, उसने कछुए की-सी गर्दन छिपा ली। मुझे लगा, अपनी जिस उज्ज्वल हसी से, उसने मुझे पल-भर को आश्वस्त किया था, वह मरीचिका-मात्र थी। उससे अब कुछ पूछना व्यर्थ था। स्पष्ट था, कि अपने असाध्य नासूर का बार-

बार कुरेदा जाना, उसे अच्छा नही लग रहा था। अदालत की जिरह, मुखर वकीलों की दलील, आत्मीय स्वजनो की प्रताडना और अखबारो की निर्मम चीर-फाड, उसे निष्प्राण कर गई थी। नारीसुलभ लज्जा, सकोच वह सब जैसे इन ऊची तग दीवारो के बाहर ही छोड आई थी। क्षण-भर पूर्व की हसी, जो मेरी लेखनी से हाथ मिलाने चली आई थी, अब उसे अगूठा दिखा रही थी। एक दमघोट मनहूस चुप्पी ने, पुरा कमरा घेर लिया। न वह ही कुछ कह पा रही थी न मैं ही कुछ पूछ सकी थी, फिर मैंने ही बडे दु साहस से बर्फ की सिल्ली पर कुठाराघात किया।

"तुम्हे क्या अब कभी पश्चात्ताप नही होता जानकी ?"

वह चौकी, सपेरे की बीन का आघात खाकर अचल क्रुद्ध पद्मनाग, जैसे फन पीछे फेंक, पूरी शक्ति से बीन पर चोट करने बढता है वैसे ही उसके नुकीले तेवर की चोट से, मैं सहमा तिलमिला उठी। उसकी आखो मे खून उतर आया, हिंस्र दृष्टि चिनगारिया छोडने लगी।

"किस बात का पश्चात्ताप जी ? क्या किया है मैंने ?" वह बोली।

मेरे जी मे आया उससे पूछ लू, 'कुछ नही किया है बहन, तो क्या यहा गगा नहाने आई हो ?'

पर उसने स्वय ही अब गर्दन झुका ली थी, बाहर का न्यायाधीश भले ही वहा उपस्थित न हो, भीतर का न्यायाधीश तो चुप बैठा सब देख रहा था।

एक पल चुप रहकर, जब उसने अपनी कहानी आरम्भ की, तब मैं एक-एक पल, उसके चेहरे के बदलते गिरगिटी रग को देख-

कर स्तब्ध रह गई । कभी वह नवोढा-सी लजाती, कभी क्रोध से थर-थर कापती, कभी उत्तेजना से दोनो हथेलिया मलती, पसीना-पसीना हो जाती, किन्तु एक पल को भी वह चेहरा फक नही पडा, यह मैं वडे ध्यान से देख रही थी । अनुशासन मे सधी जिह्वा, न थकी, न रुकी, न सकुची, न कापी । कहानी के उतार-चढाव मे आरोह का स्वर, कभी तीखा होकर कान मे लगने लगता, बस ।

कहानी ऐसी थी कि आज के, खोई हुई कहानी की खोज मे भटक रहे गुणी सम्पादक, उसे शायद अनिच्छा से दूर खिसका देते । एकदम सीधा-सा कथानक, जिसे विश्व-प्रकृति का दक्ष कथाकार, कई वार दुहरा चुका है ।

पजाव के, एक समृद्ध गाव के मध्यम वर्गीय परिवार की सुललिता कन्या ही, इस कहानी की नायिका थी, समय से कुछ पूर्व ही आकर यौवन उसे सवार गया था । गोल-गोल चेहरे को सौन्दर्य-दान मे विधाता ने उतनी तत्परता नही दिखाई थी, पर स्वास्थ्य-दान दिया था अकृपण हस्त से । भरे-भरे हाथ-पैर, नुकीली ठुड्डी, अधरो पर पान खाए की स्वाभाविक लालिमा और मदमस्त शरवती आखो मे अनोखी चितवन । हिसार की भैंस के दुग्धपान एव पिता के हरे-भरे खेतो की लहलहाती फसल ने उसके गठे शरीर का एक-एक अग ऐसे इस्पात का वनाकर रख दिया था, कि आज भी अपने उसी स्वास्थ्य के मूलधन को सेंतती, वह इन ऊची दीवारो के भीतर खीच लाई थी । न उन आखो के नीचे—विषाद की कालिमा थी, न होठो पर पपडिया ।

शान्त, आवेगहीन स्वर मे वह फिर मुझे अपनी कहानी सुनाने लगी—"गाव मे ही जन्मी, पली और वडी हुई, कच्चे कौमार्य से अन-

भिज्ञ बनी, कभी कच्ची इमली और कभी खट्टी अमिया चाटती, वनमृगी-सी कुलाचे भर रही थी, कि एक दिन सुना, उसे देखने आ रहे हैं। साफ धुले कपडे पहनाकर, उसे सवार दिया गया। देखने आया था, पात्र का बडा भाई। पिता ने आतिथ्य मे कोई भी त्रुटि नही रहने दी थी। पहले आई अधसेरी गिलास मे मक्खन की गोलाडली लस्सी, फिर आए घर के खोए के बने पेडे और अन्त मे आई स्वय नतमुखी कन्या।

रत्नपारखी ने, कन्यारत्न को देखते ही चुन लिया। किन्तु अपने छोटे भाई के लिए नही, स्वय अपने लिए। दुर्भाग्य से वह भी कुआरा ही था और आजन्म कुआरा रहने की दर्पपूर्ण मूर्ख घोषणा कर चुका था, किन्तु आज उसने स्वय ही अपना व्रत भग कर दिया। एक प्रकार से उसी दिन, उन कैशोर्य-दीप्त आखो मे हिंसा की लपट पल-भर को दहक उठी थी। वयस की असमानता भी कभी कैसा विकट रूप धारण कर लेती है! वह भी तब सोलह वर्ष की थी, और जिसने पसन्द किया था वह था अठचालीस का। किन्तु न उसके पिता को आपत्ति थी न मा को। उनकी चुलबुली, शोख पुत्री के लिए, उनकी दृष्टि मे, उन्हे एक उपयुक्त पात्र जुट गया था और फिर कौन कहेगा कि वह चालीस के ऊपर का है? न तुर्रम मूछो का एक बाल सफेद था, न कनपटी पर वार्धक्य की ध्वजा। ऊचा कद, हट्टा-कट्टा, सुदर्शन दामाद, स्वय भगवान ने, छप्पर फाडकर उनके आगन मे खडा कर दिया था, इसीसे माता-पिता निहाल थे। किन्तु पुत्री, कटी लता-सी, मूज की चारपाई पर पडी सिसक उठी थी। इस व्यक्ति के पति बनने पर, वह क्या उससे प्यार कर सकेगी। जिसने सगे छोटे भाई के मुख का ग्रास झपट-

कर अपने मुख मे धर लिया था, क्या यह सम्भव नही था कि कभी वही क्षुधातुर सौन्दर्य-लोलुप कामी, किसी दूसरे की थाली के स्वादिष्ट व्यजनो पर भी डाका डाल दे ? विवाह हुआ, वह ससुराल आई तो देवर को देखकर, वेदना-विधुर चेहरा और भी उतर गया । हाय, कैसा छबीला गबरू जवान था ! इधर, पति अपनी भोली नवेली के लिए आकाश के चाद-सितारे तोड लाने को व्याकुल हो उठा । कौन-से ऐसे मिष्टान्न थे, जो उसने शहर से ला-लाकर उसे नही चखा दिए, किसी भी रेशमी जोडे के लिए वह मुह भर खोलती कि प्रौढ पति के प्रेम का जादुई अलादीनी चिराग चट से उसके करतल पर धर देता । किन्तु इसी प्रेमकला मे पटु प्रणयी पति का एक और रूप भी था कठोर, प्रस्तर हृदय एव निर्मम ! उसकी पत्नी किसी दूसरे पुरुष से, चाहे वह उसीका छोटा भाई क्यो न हो, हसती-बोलती, तो वह मुह फुला लेता । कभी देवर-भाभी की निष्कपट ठिठोली भी उसे सिर से पैर तक सुलगा देती । धीरे-धीरे, ईर्ष्यालु पति के शक्की स्वभाव ने प्रेम की जड को कुतरना आरम्भ कर दिया । दिन-रात के कलह ने, गृह को श्रीहीन कर दिया । विवाह के पाच वर्षो मे उसने पति को तीन स्वस्थ सुन्दर सन्तान का पिता भी बना दिया था । कपडे सीने मे, स्वेटर बुनने मे, खाना बनाने मे वह किसी भी नागरिका को अब सुगमता से पछाड सकती थी । सुबह उठते ही, वह पूरे घर को आईने-सा चमकाती, बच्चो को तैयार कर स्कूल भेजती, फिर घडी के काटे के साथ, पति की थाली सजाकर हसती-हसती उसके सम्मुख खडी हो जाती । किन्तु पति की कठोर दृष्टि से आखें चार होते ही, उसके होठो की हसी सूखकर रह जाती ।

मैंने कुछ नही पूछा ।"

इस रिश्ते के खतरनाक भाईसाहव कभी-कभी अपनी धर्म की वहन को अविवेक की घाटी मे भी खीच ले जाते हैं । पडोस का वह किशोर, केवल सोलह वर्ष का था । गोरा रग । दण्ड-वैठक लगाने के शौक से, वाहो मे शोख मछलिया, असमय ही उभर आई थी, उसपर वय सन्धिकाल की साघातिक अवस्था मे, इस प्रवीणा से परिचय हो गया । मसें अभी ठीक से भीगी भी नही थी कि इस मुहबोली वहन ने राखी वाघ दी । रात-भर शक्की पति, उसकी चमडी उधेडकर रख देता, पर उसके दफ्तर जाते ही मुग्धा नायिका, दूसरे हसमुख चेहरे को देखते ही सव व्यथा विसरकर रह जाती । अपने एकान्त शयन कक्ष मे ही उसने उसके पढने की व्यवस्था कर दी थी । वह पढने वैठता, तो वह गर्म-गर्म चाय वनाकर धर जाती । कव उस ममतामयी वहन का वात्सल्य उत्कट उन्मद करवट ले वैठा, वह स्वय ही नही जान पाया ।

किताबो का गट्ठर लेकर वह पढने आता और वहुत कुछ पढकर घर लौटता। एक दिन शक्की पति, अकारण ही विना किसी पूर्व सूचना के घर लौट आया तो देखा, उसके नवीन साले साहव पठन-पाठन मे जुटे हैं और उनकी वहन जी, चाय का प्याला लिए ठुमकती चली आ रही हैं। एक तो वह ऐसा व्यक्ति था कि रक्त-मास का रिश्ता भी होता, तव भी शायद उसे क्षमा नही करता, पर यह तो गज़व की सीनाज़ोरी थी। दोनो को उसने चीरफाडकर रख दिया—"खवरदार छोकरे, आज से मैंने तुझे कभी यहा देखा तो गोली से उडा दूगा।"

किन्तु उसकी क्रुद्ध गर्जना, निरीह मेघ की गर्जना-मात्र ही वनकर रह गई, कभी वरस नही पाई। उन दोनो के मिलने को वह रोक नही सका। एक दिन दोनो ने निश्चय किया, जैसे भी हो प्रेम-मार्ग की इस कठोर शिला को, प्रेम के डायनामाइट से उडाना ही पडेगा। फिर वह मशीन मे सानकर गडासा ले आया, यही नही 'क्षुरस्ये

धारा' पर उस दर्पित वीर किशोर ने 'घाव' कर भी देखा । प्रेयसी के सम्मुख, उसने गडासा अपने पहुचे पर धरा, तो खून झलझला उठा । धरते ही जब गडासे का यह कमाल था, तब झटके से मारे जाने पर क्या गजब ढाएगा ?

"मैंने उसे अंधेरे गोदाम मे छिपा दिया जी," वह कहने लगी—"रात ही को उन्हें खतम करने की बात थी, पर न जाने उन्हे उस दिन क्या हो गया था । बार-बार उठकर बैठ जाते, और कहने लगते—'अरी उठ तो, आज न जाने कैसी तबीयत घबडा रही है, नीद नही आ रही है, लगता है, कही कोई घात लगाए छिपा बैठा है ।' "

कौन कहता है कि मृत्यु चेतावनी नही देती ! मुझे तो सदा यही लगता है कि प्रत्येक जानेवाले को, वह किसी न किसी रूप मे आकर अपनी एक झलक दिखा ही जाती है । " 'कैसी बातें करते हो जी,' " वह फिर कहने लगी, " 'दरवाजा तो खुद बन्द कर आए हो, दो बार उठकर पूरे घर की खानातलाशी ले आए हो, अब कौन छप्पर फाडकर आ गया है ।'

"उस रात को न वह खुद सोए न मुझे सोने दिया । सुबह उठे तो खा-पीकर दफ्तर चले गए, पहली तारीख थी, तनख्वाह भी लेनी थी । क्या पता इसी तनख्वाह के मोह ने अभागे को एक दिन और जीने की मोहलत दे दी हो । "

"तो गोदाम मे वह क्या रात-भर भूखा-प्यासा ही बैठा रहा ?" मैंने पूछा ।

"नही जी," मेरे धृष्ट प्रश्न ने उसे इस बार चिढा दिया । मनचाहा नेग न मिलने पर बौखला गए किसी षण्ढ की ही भाति वह विवसना बन उठी—"मैं उसे खाना खिला आई थी, रात को बच्चो को

दूध के गिलास दिए तो उसे भी दे आई। वह अधेरे कमरे मे घबडाने लगा था तो मैं उसे दिलासा दे आई।"—कैसा दिलासा दिया था, यह पूछने को मैं व्याकुल हो उठी, किन्तु क्षण-भर पूर्व गठरी बनी, सकुची-सिमटी सर्पिणी अब कुण्डली खोलकर लम्बी हो गई थी, उसकी लपलपाती चिरी जिह्वा को मैं छूती भी किस दुस्साहस से।

"उस दिन, वह बडी देर से लौटे तो खूब पिए हुए थे," वह कहने लगी—"जब भी तनख्वाह मिलती, वह बच्चो के लिए खूब टाफी-बिस्कुट के डिब्बे लाते थे, उस दिन भी साइकिल की टोकरी भरी थी।"

"ओह!" मैंने अपने प्रश्न की कोरेमिन की एक सुई और लगा दी—"तब तो अपने बच्चो से वह बहुत प्यार करता होगा?"

"हा जी, कौन बाप भला अपने बच्चो से प्यार नही करता? प्यार तो वह मुझे भी बहुत करते थे।"—मैं स्तब्ध थी, आज तक मानस की जिन पक्तियो का मैं कभी मन से समर्थन नही कर पाई थी, आज उन्ही पक्तियो का गूढ कटु सत्य मेरी कनपटी पर घन की-सी चोट करने लगा—

विधिहु न नारि हृदय गति जानी,
सकल कपट अघ अवगुन खानी।

नारी थी, इसीलिए शायद दूसरी नारी के कलक की लज्जा, पल-भर को स्वय मेरी लज्जा बन, मुझे रसातल को खीच ले गई।

"उस दिन गोश्त लाए थे जी।" ताली बजाता क्लीब अब शरीर का अन्तिम पट भी भूमि पर डाल, जैसे नेग न मिलने का असन्तोष दिखा रहा था—"मुझे गुस्सा आ गया, कहने लगे ये गोश्त बना। रात के नौ बज रहे थे, कब मसाले पिसेंगे, कब हडिया चढेगी और कब

पकेगी। मैंने कहा जी, खाना बन गया है, कल बना दूगी। बच्चे तो सो भी गए हैं। वह फिर अड गए। बोले—'आज पकेगा।' मैं कहती—'कल।' वह कहते—'आज।' और फिर इसी कल-आज की चिनगारी ने पूरे गृह को भस्म कर दिया। गोश्त बना, उन्होने खूब खाया, पर मैं मारे गुस्से के ठीक से खा भी नही पाई। रोते-रोते फिर ऐसी नीद आई कि आखें ही नही खुली। अचानक उन्होंने मुझे झकझोरकर उठा दिया। 'क्या है?' मैंने झुझलाकर पूछा। 'यहा आओ,' उन्होने कडककर कहा। मैं चुपचाप उठकर चली गई, न जाती तो मारपीट करते, बच्चे जाग जाते, रोना-धोना, गाली-गलौज—यह सब आधी रात तक चलता। जब वह सो गए तब मैं फिर अपने पलग पर आ गई, एक बार जी मे आया, गोदाम मे जाकर देख आऊ। पर फिर हिम्मत नही हुई। क्या पता, खटके मे वह जग जाए। अभी कच्ची नीद मे थे, थोडी देर बाद जाऊगी।" वह फिर चुप हो गई, उस प्रगाढ क्षण की चुप्पी स्थायी बनी जा रही थी, इधर मुझे लग रहा था, जैसे पुलिस-अधिकारियो के सम्मुख उस हत्याकाण्ड का वीभत्स नाटक एक बार फिर खोला जा रहा है, और मैं भी मूक दर्शको की पक्ति मे बैठी हू। एक पलग पर सोया है निश्चिन्त गृहस्वामी। चेहरे पर पहली तारीख को वेतन मिलने का सन्तोष है, सोने से पहले पेट-भर मनचाहा भोजन किया है, रूठी पत्नी को मना भी लिया है, इसीसे होठो की तृप्ति, पान की लालिमा के साथ छलकती, चिबुक तक वह आई है। पार्श्व मे पत्नी का पलग है, दोनो के बीच प्रेमसेतु बना स्वस्थ-सुन्दर शिशु पुत्र सो रहा है। तीसरे पलग पर सोई हैं दो पुत्रिया। बडी बिटिया बाप की मुहलगी दुलारी है, पर छोटी से भी वह कम लाड नहीं लडाता। दोनो के सिरहाने,

उसने टाफी का ठोगा, यत्न से छिपाकर रख दिया है, जिससे जगते ही दोनो देख लें। पर स्नेही पिता की अन्तिम भेंट, क्या वे अभागी तनुजाद्वय, ग्रहण कर पाई ? उस भयावह हत्याकाण्ड का एकमात्र साक्षी था, लुप्त परिवार के सिर पर ऊपर फर-फर कर घूम रहा बिजली का पखा। जब पूरा घर सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर हो गए युद्ध क्षेत्र की ही भाति शान्त था, तब ही न जाने कब मृत्यु दबे पैरो सरकती भीतर चली आई। ' मुझे गहरी नीद आई हुई थी जी। एक तो पिछली रात को सो नही पाई थी फिर बडी देर तक रोती रही थी। अचानक मुझे लगा कोई मेरे सिरहाने खडा है। 'अरे तुम यहा कैसे चले आए ?' मैं हडबडाकर उठ बैठी गोदाम से निकलकर वह सचमुच ही मेरे कमरे मे आ गया था। 'जाओ-जाओ, भाग जाओ जल्दी।' मैंने फुसफुसाकर कहा—'कही जग गया तो हम दोनो को यही खतम कर देगा '

" 'वह है ही कहा !' उसने हसकर कहा तो मेरे हाथ-पैर ठण्डे पड गए। 'हे भगवान, हे भगवान !' कहती मैं थरथर कापने लगी—सचमुच ही तो वह नही था। जिधर देखती, उधर ही खून। खून का एक कुण्ड नीचे बना था और उधर फौवारे की-सी खून की फुहारो ने छत पर लगे पखे को भी रग दिया था। मुझे लगा जी, कि उनकी गर्दन ऐंठकर ऊपर को उठ रही है। मैं चादर फेंककर बाहर भागी तो वह भी मेरे पीछे-पीछे आ गया।

" मैंने कहा—'हाय ! यह तुमने क्या कर दिया अब क्या होगा !'

" वह बोला—'क्यो घबडाती हो ? जो होगा उसे साथ-साथ भुगत लेंगे पर देखो, तुम जल्दी-जल्दी खून साफ करो और एक बडा-सा बक्सा निकाल लो '—'क्यो ?' मैंने पूछा। 'सामने मालगाडी

खडी है, हमेशा डेढ-दो घण्टे खडी रहती है, लाश को ट्रक मे वद कर उसीमे छोड आएगे ' उसने कहा तो मैं रोने लगी, 'नही, नही, मुझसे यह नही होगा '—'सुनो,' वह कहने लगा, 'रोने-धोने मे लगोगी तो रात वीत जाएगी। तुम अपने दुपट्टे से पोछा लगाओ और सीधा-सीधा लगाना, समझी ? मैं नहाकर आता हू, पर वडी ठड लग रही है मुझे' '

"हमारे गुसलखाने मे, एक वम्वे मे गर्म और एक मे ठण्डा पानी आता था। मैंने कहा—'तुम गर्म पानी से नहा लो मैं चाय वनाती हू।' "

वगल के कमरे मे पति की लाश अभी ठण्डी भी नही हुई थी, धड से विलग ग्रीवा के स्पन्दन ने अभी-अभी दम तोडा था और वह स्टोव पर चाय चढा रही थी। खून के टुकडे, जिवह वकरे की कलेजी के-से थक्के वनकर फर्श पर जम गए थे, उसने चटपट उन्ह दुपट्टा गीला कर रगड दिया। पति का वही रक्त, जिसके वने उसके तीनो वच्चे अभी उसी कमरे मे गहरी नीद मे डूबे पडे थे। वह नहा-धोकर आया तो उसने पति के कपडे निकालकर थमा दिए। एक अण्डरवियर पहनकर ही उस दूरदर्शी किशोर ने हत्या की थी, जिससे रक्त के छीटो से भरी हुई उसकी कमीज कही उसी के विरुद्ध गवाही न दे वैठे, किन्तु फिर भी नए-नए गवाह पूरे कमरे मे फैल गए थे—छत पर, दीवार पर, पखे पर। कहा-कहा तक हत्या के चिह्न मिटा सकते थे वे ! ट्रक मे वन्द कर, मालगाडी की शवयात्रा सम्पन्न हो जाती तव भी रक्तवीज के रक्त की एक-एक वूद की भाति, वे रक्त-विन्दु शत-शत रक्तवीजो की सृष्टि कर सकते थे। "चाय उवल ही रही थी कि वडी लडकी जगकर आ गई। "ममी, ममी, डैडी ने क्या

आज भी तुम्हारी बिन्दी की शीशी फोड दी ?' कहती क्या है लडकी ! कहा बचा रह गया था लहू का दाग ! वह तो पूरा कमरा पोछ आई थी। कतरे की बत्ती बुझी थी किन्तु किचन के अस्पष्ट आलोक मे ही उसने सब-कुछ देख लिया। "यह कौन है ममी ?"

मुह ढापकर स्टूल पर बैठे उस व्यक्ति को उसने नही पहचाना, पर उस प्रखर बुद्धि की बालिका ने, पिता के कपडे पहचान लिए थे जो उस अजनबी के शरीर पर कागभगोडे के अल्लम-खल्लम वस्त्रो-से झूल रहे थे।

"तुम्हारे अकल जी है बेटी," मा ने कहा।

"नही, मेरे अकल नही हैं," उसने कहा—"तुम गदी हो ममी !"

एक-एक कर, फिर तीनो बच्चे जगे, उन्हें डाट-डपटकर दूसरे कमरे मे सुला दिया गया। दोनो मुड फिर मन्त्रणा में जुट गए।

"तुम चले जाओ, मैं भुगत लूगी !" वह ढाल बनकर प्रेमी को ढक लेना चाह रही थी।

"नही, मैं यही रहूगा " उसने कहा। पर फिर वह मान गया, जाने लगा तो पति की साइकिल, ट्रैजिस्टर, घडी, टैरेलीन की शर्ट सब उसे थमा दी।

"तुम इन्हें लेकर फौरन शहर से बाहर चले जाओ " उसने कहा। विपत्ति के ऐसे कठिन क्षणो मे भी वह क्या अपने मृत पति की वसीयत करने लगी थी ?

"तुमने ट्रैजिस्टर, कमीज, यह सब उसे क्यो दे डाली ?" मैं अपना अविवेकी प्रश्न पूछ ही बैठी।

"खबर पाते ही मेरे देवर-जेठ जुट आएगे और फिर सब चीजें इधर उधर निकल जाएगी जी, इसीसे उसे दे दी थी !" उसने बडे

भोलेपन से कहा तो मैं एक बार फिर चकरघिन्नी खा गई। एक ओर को ढह गई। एक ओर यह घाघ युवती, मजी अपराधिनी की भाति, एक निर्मम हत्या की कुटिल योजना बना सकती थी दूसरी ओर वही, अपने हृदय की एक से एक गोपनीय फाइल किस भोलेपन मे मुझे थमाती चली जा रही थी। इस दुमुखे व्यक्तित्व का कौन-सा मुख असली था और कौन-सा नकली ?

वह चला गया—पर जाने से पूर्व उसे खूब सिखा-पढा गया—"देखो, सब दरवाजे खोल देना। रोज के वक्त उठना, न आगे न पीछे। फिर एक चीख मारकर बेहोश हो जाना, रोना नही, समझी ? लोग आए तो उन्हे यही लगे कि कोई अनजान हत्यारा आकर हत्या कर गया है।"

किन्तु एक बहुत पुरानी कहावत है कि खून स्वय बोलता है। उसका अभिनय अपूर्व था, चीखने मे, बेहोश होने मे, विलाप करने मे, कही भी उससे चूक नही हुई थी, फिर भी तीसरे दिन उसने जघन्य अपराध स्वय ही उगल दिया। हथकडी-बेडियो मे कसा उसका प्रेमी उसके सम्मुख खडा किया गया। "मैं अपनी रुलाई नही रोक पाई जी," उसने कहा। और न जाने कब की पढी पक्तियो का कोई मेरे कानो मे सस्वर पाठ-सा करने लगा—

तिरिया जल मह आग लगावे,
तिरिया सूखे नाव चलावे।

परलोक की हथकडी-बेडियो में कसे पति को देखकर भी जिसकी आखें गीली नही हुई थी उसीकी आखे आज इहलोक की हथकडी-बेडियो मे कसे प्रेमी को देखकर बरस पडी।

"उसने मुझे दिलासा दिया जी, कहने लगा—'रोती क्यो हो,

तुम्हारे दुखो का तो मैंने अन्त कर दिया।" किन्तु क्या सचमुच ही उसके दुखो का अन्त कर सका वह? आज एक शहर के उदार आकाश के नीचे दोनो वन्दी हैं, पर एक-दूसरे से इतनी दूर कि एक का करुण तप्त नि श्वास, दूसरे का स्पर्श भी नही कर पाता। ऊची दीवारो मे वन्द उस वन्दिनी को विस्मृत जीवन की स्मृतिया क्या कभी विह्वल नही कर देती होगी? कभी देखती होगी। पिता की लहलहाती फसल की वालो के साथ वह झूमती फिर रही है—वेपरवाह मनुआ को न चाह है न चिन्ता। फिर उसका रिश्ता पक्का करने उसके जेठ आ रहे हैं। कितनी रातें, अनजाने, अनचीन्हे प्रियतम की मादक कल्पना मे डूबती-उतराती, काट लेती है और फिर कोई छाती पर घूसा-सा मार जाता है। रिश्ता पक्का तो हो गया किन्तु छोटे से नही, वडे से। ससुराल आई, तो तीसरे ही दिन चरित्रहीन, पति का निर्लज्ज प्रणय-नाटक देखकर सहम गई। उसे देखकर खिसियाई हसी हस, उस दूर के रिश्ते की जिठानी ने वेहया कैफियत देने की धृष्टता भी की थी। 'अरी नई वहू, हमे एकसाथ देखकर घवडा क्यो गई? इनसे तो मेरा ठिठोली का रिश्ता वहुत पहले का है, तव तू शायद पैदा भी नही हुई होगी।"

हाड-मास जलकर भस्म हो गए थे उसके। पर कहती क्या? वह नई नवेली जो थी।

दोनो के वीच मनोमालिन्य की दीवार की विधि ने यह पहली ईंट धरी थी। अपनी भाभी से तो उसका ठिठोली का ऐसा अभूतपूर्व रिश्ता था किन्तु उसे क्या किसी देवर की भाभी वनने का अधिकार नही था? जहा वह अपने किसी देवर से हसती-बोलती, वह खडे-खडे उसे चीरकर रख देना। किन्तु नई रेशमी साडी चर्र से चरक जाए, तो

बुद्धिमती गृहिणी की प्रशसा इसीमे है कि वह सूई-तागा ले, चट बैठकर उसे सी ले। ऐसे ही उसके सद्य विवाहित जीवन का रेशमी चीर देखते ही पैबदो मे भर गया। ईश्वर ने उसे तीन फूल-से बच्चे भी दिए और बेटा ऐसा था कि देख लो तो भूख भाग जाए। "उस दिन मेरे और अपने बाप के बीच सोया था जी," वह कहने लगी—"खुली हथेली ऊपर को थी, बाप के खून मे भर गई।" मेरा सर्वांग सिहर उठा किन्तु मैंने देखा, कहनेवाली के निर्विकार चेहरे पर, एक शिकन भी नही उभरी थी। वह इस बनावटी गाम्भीर्य के मुखौटे को कितने ही यत्न से क्यो न लगाए, क्या कभी उस खून मे छलछलाती नन्ही हथेली की स्मृति, उसका गला नही घोट देती होगी? वे रूखी, ममताहीन आखें, भले ही सूखी रहे, क्या उसका सुप्त मातृत्व कभी पुक्का फाडकर नही रो उठता होगा?

कारागार के घटे की, दमामे की-सी हृदयहीन गूज, बैशाखी की उस दारुण-दहन वेला मे, उसकी काल-कोठरी मे कितनी भयावह गूज से गूजती होगी! पत्थर की शरशय्या की निद्राहीन रातें क्या उसे उसके उस शयन-कक्ष की ओर नही खीचती होगी, जहा पलग पर गुदगुदा बिछौना था, फरफर करता बिजली का पखा था और थे बुलबुल-से चहकते तीन बच्चे। पति क्रोधी भी था तो वह चेष्टा करने पर बिना गडासे के भी उसे साध सकती थी। नरभक्षी वनराज को क्या सर्कस के रिगमास्टर का धैर्य पालतू नही बना लेता? गृहस्थी का सुख-दुख, धूप-छाह, सिसकिया, खिलखिलाहट, भला किस गृहिणी के जीवन मे नही हैं? इसीमे तो गृहस्थी का सुख है। एक समृद्ध गृहिणी मेरी परिचिता हैं। स्टील की आल्मारिया रेशमी साडियो से पटी पडी हैं किन्तु 'तृष्णा न जरायते', इसीसे नित्य नवीन साडिया खरीदने

कभी जाती हैं लखनऊ, कभी बनारस और कभी मद्रास। एक से एक नई गढन के गहने गढवाती रहती हैं, बटुआ सदा नई ब्याई बकरी के बधे पुष्ट थनो-सा लटका रहता है। वातानुकूलित गृह है, इम्पाला गाडी है, बच्चे हैं, फिर भी भीरु मन का एक कोना है अकेला, अन्धकारमय। पति को पीने-पिलाने से फुर्सत नही मिलती, कचन है इसीसे कामनी का भी अभाव नही है, घर की घरनी के लिए समय नही निकाल पाते हैं। कभी बेचारी गले के हार के भार से झुकी गर्दन और भी झुका रुआसे स्वर मे कहती है—"बहन, इस जिन्दगी से मौत भली," पर तीसरे ही दिन पति एक मोटा-सा चेक थमाकर कहते हैं—"जाओ अपने लिए कुछ साडिया खरीद लाओ।"

यह आयकर से बचने की अनोखी सूझ थी, या कर्त्तव्य-परायण पति का प्रेम? पर वह अपना सब दुख भूल-भालकर, कार भगाती फिर साडिया खरीदने लगती। यह दुख-सुख भला किसके जीवन मे नही है? इस ऐन्द्रजालिक ससार के रगमच को, कभी कैसे-कैसे अभिनयपटु पात्र, रगीन बना देते हैं।

नारी के कितने रूप दिखा देता है विधाता। कोई दयामयी, वात्सल्य की सागर-मूर्ति, और कोई उन्मत्त-उग्र वज्र भैरवी।

वह सहसा हाथ जोडकर उठने लगी तो मैंने जान-बूझकर ही पूछ लिया—"रामायण पढती हो ना?" मैं जानती थी कि कारागार मे वन्दिनियो को रामायण देने की सुव्यवस्था रहती है।

"जी पढती ह।" उसने आखें झुका ली।

मैंने एक अनोखी तृप्ति का अनुभव किया। एक न एक दिन तो उस चौपाई को उसके पश्चात्ताप का अश्रुजल सिक्त कर ही देगा—

पतिवचक परपति रति करई,
रौरव नरक कल्प शत परई।

"मैं जाऊ जी ?" उसने फिर विनम्र स्वर मे अपना प्रश्न दुहराया—मैंने गर्दन हिलाकर हसने की चेष्टा की किंतु तप्त धरणी पर पडे जल-विन्दु की ही भाति मेरी हसी सूखे होठो पर फिसलते ही सूख गई। वह चली गई तो मैं सोचने लगी, इस सारिका के पिजडे से भी एक और कठोर पिजडे मे जो अठारह वर्ष का यौवन-शुक वन्दी है, वह क्या अब सींकचो को चचु-आघात से टक-टक वजाता, अपने कर्मो को रोता होगा या प्रकृति नटी ने अव उस मिट्ठू को यह मीठी वाणी रटा दी होगी—

सुदरि तै सूली भली
बिरला बचे कोई
लोह निहाला अगिनी मे
जलि वलि कोयला हाय

जैन [illegible] पुस्तकालय
प्रा. क्र.
दिनांक
भीनासर

साधो, ई मुर्दन के गांव!

मुर्दों के इस ग्राम से जब मेरा पहला परिचय हुआ, तब मैं बहुत छोटी थी, इसीसे मेरे अबोध चित्त के कच्चे सीमेट पर, उसकी स्मृति, किसी शिलान्यास की लिपि की ही भाति, आज भी अमिट अक्षरो मे, ज्यो की त्यो खुदी है।

मेरे पिता उन दिनो ओरछा महाराज के गृह-सचिव थे एव उन्होने राज्य के कारागार की व्यवस्था मे अनेक दुस्साहसी परिवर्तन किए थे। उन्हींके प्रयत्नो के फलस्वरूप पहली बार टीकमगढ जेल के प्राणदण्ड पाए बन्दियो के पैरो की बेडिया काट दी गई थी। उन दिनो उस कारागार का एक ऐसा ही बन्दी हमारे घर पर भी बागवानी करने आया करता था, वर्षो से पैरो मे पडी बेडियो को दोनो हाथो से थाम वह अठारह वर्षो से एक-एक इच कदम रखता चला आया था, इसीसे बन्धन कट जाने पर अब भी स्वाभाविक कदम नही रख पाता था। टखनियो के पास, दो गहरे घाव नासूर बन गए थे।

"तुमने क्या किया था बनी?" मैंने एक दिन उससे पूछा तो

भयावह मूछो को बडे गर्व से ऐंठकर उसने कहा था—"अपने साहव की गर्दन गडासे से काटी थी विन्नू !"

"क्यो ?" मैंने पूछा तो वह निरुत्तर खडा रह गया था। वेचारा उत्तर दे भी देता तो क्या समझने की मेरी उम्र थी ? वसी ने अपने फिरगी प्रभु की नृशस हत्या की थी, फिर भी फासी के फन्दे से वचकर निकल गया था, यह सचमुच ही एक आश्चर्यजनक घटना थी, किन्तु जिस क्रोध के क्षणिक आवेश मे उसने यह जघन्य अपराध किया था, उसीने स्वय उसकी पैरवी भी कर दी थी। साहव का अपराध भी तो उसीकी टक्कर का था ! अपने भूखे खानसामे के मुख ग्रास को उसने छीनकर अपने मुख मे धर लिया था। वह तो नटिनी की-सी फुर्ती से उसकी वहू छिटककर भाग गई थी, नही तो उस कुलटा का मुण्डहीन धड भी, साहव ही के साथ, वही लोटता। प्राणदण्ड न देकर, इसीसे न्यायप्रिय न्यायाधीश ने उसे दिया था आजन्म कारावास। उन दिनो मुर्दों के उस गाव का वही मुखिया था। एक वार उस गाव की पूरी वस्ती को एक वडी-सी ट्रक मे भर कुण्डेश्वर महादेव के दर्शन को लाया गया, यह भी मेरे पिता के दुस्साहसी प्रयोगो मे से एक प्रयोग था। विछुडे उन्मुक्त आकाश से उनका वह अद्भुत प्रथम मिलन, मैं अपनी छत पर खडी होकर देखती रही थी। जव उन्हे एक वहुत वडे हण्डे मे भरकर गर्म जलेविया दी गईं तव उनके अभिशप्त कण्ठो से निकले जयघोप ने हमारे कान के पर्दे फाडकर रख दिए थे। वर्षों पश्चात् मुझे एक वार फिर उस उजडे गाव को वहुत निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस वार मेरे भाई ओरछा महाराज के निजी सचिव नियुक्त हुए थे। रियासती वन्दी-गृह के अधीक्षक अव भी वही पुराने

जेलर साहव थे। एक दिन मिलने आए तो मैंने जिद की कि मैं भी उनके साथ जेल देखने चलूगी। मेरा धृष्ट प्रस्ताव सुनते ही पहले तो वह भडक गए थे—"नही-नही, वह भी भला कोई देखने की चीज है? भले घर की बहू-वेटिया वहा कैसे जा सकती हैं?" पर मैं भी अड गई थी, जैसे भी हो हमे जेल दिखानी ही होगी। साथ मे थी, नई-नई व्याहकर आई भाभी। घर से तो हम वडे उत्साह से चली थी, किन्तु गगनचुम्वी दीवारे देखी तो सहम गई। मेहरावदार जगी ड्योढी पर सुस्पष्ट लिपि मे विना किसी शव्दाडम्वर के ही उस भयावह आगार की महत्ता 'जेल' लिखे केवल दो अक्षरो मे ही स्पष्ट कर दी गई थी। आज के कारागार देखती हू तो उसकी तुलना मे कैसे अपूर्व लग उठते हैं। कारागार ही नही, कारागार के अध्यक्ष, कर्मचारी, सन्तरी, यहा तक कि स्वय वन्दीगण भी जैसे समय के साथ-साथ एकदम वदल गए हैं। ओरछा के जेलर का व्यक्तित्व भी कारागार के दुर्धर्ष परिवेश के चौखटे मे एकदम ठीक वैठता था। तग खाकी जोधपुरी हाथ मे हण्टर और ऐंठी-तनी पुष्ट काली मूछें। पता नही अव वह कहा है, किन्तु जहा भी वह रहें मुझे लगता है उनकी मूछे अव भी उतनी ही रोवदार, उतनी ही घनी और उतनी ही काली होगी। देवताओ के कण्ठ मे पडी पुष्पमालाओ की भाति वे कभी कुम्हला नही सकती। उस अनुशासनप्रिय, कठोर अधिकारी का रोव सचमुच दर्शनीय था। गरजते तो लगता किसीने कोरे लट्ठे का थान फाड दिया है, कोई वन्दी यदि वगावत का सामान्य आभास भी देता तो उसे वही चुटकी से मसलकर रख देते। घूम-घूमकर उन्होने हमे वह कमरा दिखाया था जहा कैदी एकसाथ वैठकर समवेत रामायण-पाठ करते थे, फिर वह कोठरी जहा वन्दीगृह के

पटु लोहार स्वय अपने ही हाथो से अपने आभूषण गढते थे, कई जोडी हथकडी-बेडियो के भारी-भारी छल्ले उठाकर उन्होंने हमे दिखाए, फिर अपराधी हाथो से बनी कलात्मक दरी-प्रदर्शनी से हमे फुसलाने की भी चेष्टा की थी, किन्तु मैं समझ गई कि वह जानबूझकर ही हमे बन्दियो से बिना मिलाए बाहर लिए जा रहे हैं। बन्दियो मे उन दिनो मध्य प्रदेश का कुख्यात डाकू देशपत भी था, उसके दस्यु जीवन की लोमहर्षक कथाए उसके जीवनकाल मे ही दन्तकथाओ की लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थी, कब उसने किस ग्राम को लूट लिया, कब ललितपुर के किस सेठ की सम्पत्ति को, पलक झपकाते ही लूट, दतिया के किस ग्राम की निर्धन-अनाथा कन्या के विवाह मे लुटा दिया, आदि-आदि

"अच्छा, चलो, तुम्हें देशपत से मिला दें!" उन्होंने कहा तो मुझे मन ही मन घबराहट-सी होने लगी थी।

तब सचमुच ही क्या मैं देशपत को देख सकूगी? वही देशपत, जिसके औदार्य, शौर्य और पराक्रम के आल्हा बुन्देलखण्ड के गाव गाव में गाए जाने लगे थे। किन्तु जब देशपत हाथ बाधे मेरे सामने आकर खडा हो गया तब जैसे विश्वास ही नही हुआ कि वही देशपत है। छरहरा शरीर, अधपके बाल और झुर्रियो से भरा गेहू-गोरा चेहरा। झील-सी शान्त आखो के नीचे क्या सचमुच ही जानलेवा गहराई छिपी होगी? जिस कारागार के भीतर, बाहर की चिरैया भी भूले-भटके ही आ पाती थी, वही हम दोनो को देखकर उसके चेहरे पर कुतूहल की एक भी रेखा नहीं उभरी। हाथ जोडकर वह ऐसी करुण नम्रता से झुककर खडा हो गया कि मेरा जी भर आया। ऐसा पराक्रमी दस्यु वीर, आज कैसा दीन-हीन-याचक बनकर रह

गया था। काम के बीच ही उसकी पुकार हुई थी, इसीसे वह कर्मठ मुखिया अधैर्य से पूछने लगा—"मैं अब चलू सरकार ? खाने का घटा बजने ही वाला है।"

"देशपत की देखरेख मे ही बन्दियो का खाना बनता है—'क्यो, आज क्या बना है तुम्हारे अटोल मे ?' " जेलर ने पूछा। वह हसा। सामने के दो टूटे दातो से छलकती कर्णचुम्बी हास्योज्ज्वल स्निग्धता उसके पूरे चेहरे को भिगो गई—

"और क्या बनेगा सरकार वही चने की दाल और रोटी बनी है।"

"जाओ, साफ तश्तरी मे धरकर ले आओ तो, क्यो बिटिया—इनसे मिलने को तो तुम तरस रही थी, देखू, इनका खाना भी तुम्हे तरसा सकता है या नही—चखोगी ?" मैंने गर्दन हिला दी थी, और पल-भर मे करतल पर ही तश्तरी साधे, देशपत दो मोटी स्वस्थ रोटिया और सकोरे मे चने की दाल लेकर आ गया। यही नही, उतनी ही देर मे वह दयालु मेजबान चटपट तवे पर ही टमाटर भूज चटनी भी बना लाया था। मैं खडी-खडी खा रही थी और बिना मेरे आह्वान की प्रतीक्षा किए, कई जोडी बन्दी आखें मुझे आश्चर्य से देख रही थी। आज भी, मैं उस बुन्देलखण्डी ढाल-सी चौडी कठोर रोटी और मुक्ता-सी अलग-अलग छितरी चने की दाल, चटनी के स्वाद को नही भूल सकी हू। खाकर मैंने अपनी एक और बचकानी फरमाइश से जेलर साहब को चौका दिया था—"मैं फासी के कैदियो को देखे बिना घर नही जाऊँगी।" "नही-नही, वहा नही ले जा सकता तुम्हे खूनी को फासी की सजा जगली ढोर बना देती है, चलो घर पहुचा दू—मा जी सुनेंगी तो बिगडेगी।" वह हमे

एक प्रकार से खदेडते बाहर लिए जा रहे थे, पर मेरी जिद ने अन्त मे उन्हें झुका ही दिया। वह बडी ही अनिच्छा से हमे एक लम्बा-चौडा दालान पार करा, जेल के दूसरे छोर पर ले गए। झुकी नीची छतो के उन कमरों को देखकर मैं खडी ही रह गई थी। ओफ, ऐसे कमरो मे भी क्या कोई जिन्दा रह सकता है? केवल दो ही बन्दी थे वहा, किसी भी भोर के धुधलके मे, जेलर के हिलते रुमाल की झण्डी का सकेत पाते ही उनके जीवन की गाडी इहलोक के स्टेशन को छोड देगी। जल्लाद का एक सधा झटका रीढ की हड्डी को झुनझुने-सा हिलाकर निर्जीव देह को लटकती छोड देगा! ओफ, ठीक ही कहा था उन्होने! भयावह रूप से बढी दाढी हिलाते वे दोनों बन्द सीकचो की टेक लेकर खडे हो गए थे, और इससे पहले कि ईसुरी की उस फाग की दूसरी पक्ति हमे डसती, जेलर बडे कौशल से हमे बाहर खीच ले गए थे, फिर चलते-चलते उन्होंने कारागार की एकमात्र बन्दिनी पतिहन्ता मालिन से भी हमे मिला दिया था। उसे दूसरे ही महीने फांसी मिलनेवाली थी। जेलर ने बार-बार कहा कि भले घर की बहू-बेटिया उसे देखने आई हैं, वह घूघट हटाकर उन्हे अपना चेहरा दिखा दे, किन्तु उस हठीली अवगुण्ठनवती ने पूरे चेहरे को घूघट से ऐसे लपेट लिया जैसे बुर्का हो! हमने और जिद की तो वह वही पर, फासी का फन्दा गले मे पडने से पूर्व, अपने घूघट के फन्दे से ही अपने प्राण ले लेगी, स्वय मृत्युदाता जल्लाद ही अब उसका चेहरा देखेगा और कोई नही। यही सब बिडबिडाती वह धरती मे धसी जा रही है, यह देख हम उठ गई थी।

इतने वर्षों पश्चात् जब फिर इधर मुझे अचानक ही एक कारागार को देखने का निमन्त्रण मिला, तब मैं बडे ही उत्साह से घर मे

चली थी । किन्तु वहा पहुचकर भी क्या वह उत्साह टिक पाया ? पतिहन्ता पुत्रवधुहन्ता, भ्रूणहन्ता डकैत, ठगिनी, कुटनी सब ही चरित्र तो वहा थे किन्तु कहा थी वह अट्ठाईस वर्ष पूर्व की अवगुण्ठनवती मालिन जिसने हमारे लाख कहने पर भी अपने कलकित चेहरे से घूघट की यवनिका नही उठाई थी ? “हाय, ऐसा चेहरा क्या भले घर की बहू-बेटियो को दिखाकर अपना परलोक भी बिगाड लू सरकार ?” ऐसा ही कुछ कहा था उसने ।

किन्तु आज ? कारागार के इस नवीन रचमच पर कैबेरा नर्त्तकियो की-सी ही निर्लज्ज उदासीनता से एक के बाद एक कितनी ही बन्दिनिया मेरे सम्मुख स्ट्रिपटीज़ करती चली गई थी । न उनके आत्म-निवेदन मे पश्चात्ताप था, न सकोच ! मेरी लेखनी ही कई बार सहमकर थर्रा गई, किन्तु उनकी चपला जिह्वा नही थर्राई । अदालती जिरह, हवालात का सान्निध्य और दीवानजी की निर्ममता ने उन्हें मुखरा बना दिया था । किसी नाटक की पूर्वाभ्यास कर रही पात्राओ की ही भाति वे मुझे अपना-अपना पार्ट सुनाती चली गई थी । एक जानकी की ही नही, और भी कई जानकियो की आत्मकथा सुन, मन न जाने कैसा हो उठा था । जी मे आया चुपचाप उठकर बाहर निकल जाऊ, किन्तु इसी बीच वार्डर आकर दूसरे रोचक एकाकी की घोषणा कर गई । रगमच पर अब एक सर्वथा नवीन ठप्पे की नटी अवतरित हुई । लम्बोतरा सावला चेहरा, शरीर के अनुपात मे बहुत लम्बे-लम्बे लग रहे हाथ-पैर और तिर्यक् दृष्टि । एक पल को लगा जैसे मैने इसे कही देखा है, फिर पहेली समझ मे आ गई । देखा अवश्य था किन्तु जीवन रूप मे नही । कैसा आश्चर्यजनक साम्य था ! कुछ ही दिनो पूर्व किसी चित्र-वीथिका मे यही चेहरा तो देखा था ।

वी०, प्रभा ने क्या इसी कारागार से माडल चयन किया था ? चेहरे पर वैसी ही मासूमियत थी और कपोलो के उठान मे भी वही चिकना चमत्कार ! किन्तु जब वह एकदम पास आकर बैठ गई, तब मैने फिर उसे देखा । नही, यह तो चेहरा नही है । पाल मे पडे इस पपीते का डाल पर पके उस पपीते से कोई साम्य नही था । उस चित्र की स्वाभाविक मिठास के सम्मुख इसकी नकली प्रतिभा परिपक्वता मे धरती-आकाश का अन्तर था । उसकी कहानी भी अत्यन्त विचित्र थी । वह एक ऐसे डकैत की प्रियतमा थी, जिसके आतक ने सैकडो गावो को थर्रा दिया था । न जाने कितने डाके डालता वह निर्भीक साड-सा ही इधर-उधर घूमता रहता, किन्तु एक दिन पकडा गया, और अब दिल्ली के कारागार मे लम्बी सजा भुगत रहा था । उसकी पत्नी थी उससे बहुत दूर, एक दूसरे कारागार मे । दो महीने बाद वह छूट जाएगी । छूटकर वह क्या करेगी, इसके लिए सम्भवत उसे सोचना नही पडेगा । एक सौ बीस तोला सोना उसके बैंक के खाते मे जमा है, कानून उसका यह सुवर्णकोष रिक्त नही कर पाया था क्योकि उसने कह दिया था कि यह उसकी ससुराल और मायके का चढावा है । पति डाके डालकर आता तो जगल मे मगल हो जाता । दस्यु दल का कोई शूरवीर था उसका मुहबोला देवर, कोई जेठ और कोई भानजा-भतीजा । इसीसे जब भी दस्यु दल सफल अभियान के पश्चात् लौटता, कोई भाभी के गले मे लूट का हार झुला देता और कोई पहना देता मोती का तोडा । एक बडे-से कडाह मे, फिर सोने के उन आभूषणो को खौलाकर, खोए-सा घोट दिया जाता । गलाई गई उस सुवर्णराशि मे फिर नवीन आभूषणो की सृष्टि होती । इस प्रकार वह दस्यु दल की पटरानी नित्य नवीन आभूषणो से जगमगाती रहती । वयस की असमानता

यहा भी थी। जानबूझकर पिता ने पुत्री को अपने मित्र की पत्नी बनाकर विदा किया था। वह जानता था कि पुत्री राजरानी ही बनकर राज नही करेगी, एक न एक दिन उसकी छलकती वैभव-सरिता का प्रवाह पितृ-गृहोदधि मे एकाकार होने, उसी ओर प्रवाहित हो उठेगा। ससारार्णवतारिणी लक्ष्मी कभी-कभी कैसी हृदयहीन और निष्ठुर बन सकती है, यह वह नही जानता था। लक्ष्मी ने उसकी पुत्री को सिर से पैर तक सोने से मढ अवश्य दिया, किन्तु फिर उन्ही हाथो ने एक दिन उसे कारागार की ओर ढकेल भी दिया।

पति अपने जानलेवा दौरो से लौटता, तो मानसिक तनाव से छुटकारा पाने, पत्नी को ले न जाने कहा-कहा घूमने निकल जाता। नई चमचमाती कार किसी अधेरी गली मे उनकी प्रतीक्षा कर रही होती। नई साडी और नये आभूषणो की छटा विकीर्ण करती वह वनलक्ष्मी अपने दस्यु प्रियतम की वामागी बनी हवा मे कार भगा देती। कभी जाते बरेली, कभी लखनऊ और कभी कानपुर।

"तुम्हें क्या कभी यह नही लगा कि तुम्हारा पति डाका डाल किसीकी नृशस हत्या कर ही तुम्हारे लिए साडी-गहने जुटा सका है ?" मैंने पूछा।

"क्यो ?" बडी अवज्ञा से मुझे देखकर उसने आखें फेर ली—"मुझे क्या पता था कि वह डाका डालते हैं, हत्या करते हैं !" कैसा भोला उत्तर था, किन्तु झूठी कैफियत देने मे उस पटकोणी चेहरे का मुखौटा पहली बार पूरी तरह नीचे खिसक गया। वह बीच-बीच मे स्वय चुप हो जा रही थी। जानकी एक बार कहानी सुनाने लगती तो कभी-कभार ही रुकती थी, किन्तु यह नई-नई पकडी गई नागिन की भाति बार-बार अपनी पिटारी की कुण्डली मे सिर छिपा लेती।

कोच-कोचकर ही मुझे उकसाना पड रहा था।

"पर तुम यहा किस अपराध की सज़ा भुगत रही हो ?" मैंने पूछा ।

"जी, चार सौ ग्यारह की—मेरे पति सात डकैतियो और कत्ल की सज़ा भुगत रहे हैं।" वह अभी भी मेरी ओर नही देख रही थी, पर फिर मैंने बडे छल-बल से उसकी पूरी कहानी उससे उगलवा ली। एक बार जब उसका पति अपने हरिकेनी दौरे से लौटा तब वह बुरी तरह ऊबी-थकी, टूट-सी गई थी। उस अरण्य मे ऐसे प्रियतम की प्रतीक्षा, जो लगभग उसीके पिता का समवयसी था, उसके धैर्य की कठोर अग्नि-परीक्षा थी। दिन-रात, सुरग-सी अन्धी गहन वनवीथियो मे वह अपना सुहाग हथेली पर धरे बैठी रहती। एक सामान्य-सा विचलित पत्र भी उसे सहमा देता। क्या पता दस्यु दल के किसी विभीषण ने उसकी लका ढहा दी हो! कब कौन सदस्य पुलिस-दल से जाकर साठ-गाठ कर ले, क्या ठिकाना! उस बार तो वह धैर्य ही खो बैठी थी। हो सकता था, सरकारी खज़ाना लूटने मे स्वय लुट गया हो, या बैंक के किसी खज़ाची को गोली से उडाने से पूर्व, स्वय उसकी गोली से उड गया हो! पर वह एक दिन सकुशल लौट आया। मानिनी का मान भग करने मे उसे इस बार विशेष प्रयत्न नही करना पडा। गन्दे फटे चिथडे मे बधी पोटली खुली, तो जगमगाते रत्नो की दमक से उसकी आखें चौंधिया गई। क्या दमकता पीला सोना था और जडाऊ हार की कैसी अनोखी गठन! किन्तु प्रिया के कठ मे वह हार पहनने मे उसकी अगुलिया कापी अवश्य होगी। उस नृशम हत्याकाण्ड के स्मृति-आलोडन ने उसके हृत्पिण्ड को हिला ही दिया होगा, एक गर्दन की

शोभा बढाने के लिए उसे एकसाथ कितनी गर्दनें साफ करनी पडी थी। फिर भी उस परिवार के गृहस्वामी की गर्दन बच गई थी। "सुनो," उसने पत्नी से कहा था—"इसे आज भले ही पहन लो, पर जहा से यह मिला है, वह इसे सहज मे नही छोडेगा। कल ही इसे गलवाना होगा।"

"नही-नही, मैं इसे नही तुडवाने दूगी—अपनी साडी मे लुका-छिपाकर ब्लाउज़ के नीचे डाल दूगी, फिर कौन देखेगा भला ?"

किन्तु ससार की कौन नारी भला अपने नवीन कण्ठहार की शोभा, साडी के नीचे छिपा सकती है ? जब तक किसी दूसरी के मुह से, अपने आभूषण की प्रशसा मे 'वाह' न सुन ले, जब तक किसी सखी, ननद, देवरानी, जिठानी की आभूषण-लोलुप दृष्टि लार न टपका दे, पहननेवाली को भला कभी सन्तोष हो सकता है ? "बरेली मे रात का सेकेण्ड शो देखकर हम लौट रहे थे", वह उदास स्वर मे कहने लगी तो मेरी कल्पना ने कैमरा साध लिया। नई साडी, सस्ते इत्र की खुशबू, चमकीला बटुआ, सावले अधरो पर मीठे खुशबूदार पान की लालिमा और आखो मे सेकेण्ड शो की खुमारी। मदालस पति को सद्योदृष्ट फिल्मी कैबेरा नर्तकी के घातक नृत्य ने, आसव की एक और घूट पिला दी थी, उसी चलचित्र के खलनायक की भाति उसने कार पूरी स्पीड में भगा दी। अचानक उसे लगा, कोई उनका पीछा कर रहा है।

"लगता है पुलिस की गाडी हमारा पीछा कर रही है", वह बुरी तरह घबरा गया, और गाडी टेढी-मेढी होकर इधर-उधर जाने लगी। अब तो जुलाहे का गुस्सा दाढी पर उतरा—"मैंने तुमसे कितनी बार कहा था, इस हार को मत पहनो। तुडवा देती तो आज

यह सव नही होता । वीसियो चन्द्रहार वन जाते, पर औरत जात हो ना !" ठीक ही कह रहा था वह—'काल कनक अरु कामिनी परिहर इनको मग' काश, उसने इस सीख का स्मरण पहले किया होता ! दस्युप्रिया ने हार खोलकर वटुए मे डाल दिया, फिर दूसरी गाडी और नज़दीक आई, तो उसने पेटीकोट के नेफे मे खोस लिया। किन्तु पकडे जाने पर वह पुलिस की घाघ दृष्टि को छल नही सकी। पहचाननेवाले ने अपना गहना पहचान लिया और इस वार सच-मुच ही उस गहने ने पहननेवाली की गर्दन तोडकर रख दी। मैं जिस दिन उससे मिलने गई, मेज़ पर उसके पति के लिखे दो कार्ड धरे थे। मेरी दृष्टि स्वय ही उनपर फिसल गई। 'किस्सा तोता-मैंना' की भाषा मे लिखे गए, कुछ अश पढकर ही मैंने आखे फेर ली। वह अव अपने लम्बे-लम्बे हाथो को अभिवादन की मुद्रा मे वाधती उठ गई थी।

चलने लगी तो मैंने पूछ दिया—"अव तो तुम शीघ्र ही छूट जाओगी, फिर क्या करोगी ?"

उसने पहले मुझे वडी सन्दिग्ध दृष्टि से देखा, जैसे मैं उसकी तलाशी लेनेवाले कठोर दारोगा की ही छोटी वहन हू। फिर वह दृढ स्वर मे अपनी घोषणा करती चली गई—"मास्टरनी वनूगी, 'होम' मे जाकर ट्रेनिग लूगी, आठवी पास कर चुकी हू।"

किन्तु, मास्टरनी वनने पर भी, वह क्या अपने अरण्य के उस राजसिहासन की स्मृति को मिटा पाएगी, जहा एक भीम कढाह मे वीसियो आभूषणो का दलिया पकता था, जहा वडे-वडे डेगो मे मद-मस्त मसालो मे पक रहे गोश्त की सुगन्ध से दिशाए मह-मह महकती थीं, जहा घूमने को चमचमाती मोटर थी, रुपयो से भरा वटुआ था

और कण्ठ मे था वहुमूल्य रत्नजटित चन्द्रहार ।

“अव उससे भी मिलेंगी क्या ?” अधीक्षिका ने पूछा तो मैं एक वार फिर चौंक गई । क्या ये दोनो अपने पूर्वकृत पाप-कर्मो का किया भोग रही थी या इहलोक के कर्मो का ? दोष इनका था या परिस्थितियो का ? “तो वुलवा लू उसे ?” अधीक्षिका ने फिर पूछा ।

“जी हा, वुलवा लीजिए ।” मैंने कुछ वेमन से ही कहा किन्तु आज सोचती हू, मैंने अच्छा ही किया । कडवी औषधि खाने के पश्चात् मीठा वताशा भला किसे अच्छा नही लगता ? अव तक जैसे मैं सास रोके किसी प्रख्यात सर्कस के कलाकारो का दुस्साहसी ट्रैपीज प्रदर्शन देख रही थी, गगनचुम्वी हिण्डोलो मे क्षीण रस्सियो के सहारे झूलते ये नर-नारी, कैसे हवा मे मौत की छलागें भरते एक-दूसरे का हाथ पकडते चले जा रहे थे । अव, मेरे धडकते कलेजे की धडकन सभालने चला आ रहा था वौना जोकर । एकदम वैसा ही वज्रमूर्ख चेहरा, भावनाहीन आखें और अधरो पर निरर्थक हसी । “इनसे मिलिए !” डाक्टरनी ने हसकर कहा—“कल छूटकर घर जा रही है ।” सुनो जी मगी, तुम्हारे आदमी की चिट्ठी आई है कि तुम्हारे आने की उसे एक ही घवराहट हो रही है ”—“क्या मेम साहव ?” वह घवराकर वेंच से उठ गई ।

उसका घवराना स्वाभाविक भी था, क्या पता चौदह ससुरालो की भाति, उसके अतीत का कलक, उसे इस प्राणाधिका पन्द्रहवी ससुराल से भी झाडू मारकर वाहर खदेड दे ? यही डाक्टरनी हसकर कहने लगी—“तुम पहुची तो इस वार शायद उसके घर की एक ईंट भी नही वच पाएगी ।”

“नही सरकार,” उसने अपने लम्वकर्णद्वय खीचकर और भी लम्वे

कर लिए—"अब मैं नही खाऊगी।"

मैं जैसे आकाश से गिरी। कहती क्या है यह! क्या यह सचमुच ही घर की ईंटें खाती होगी? मेरी दुविधा शायद डाक्टरनी ने समझ ली थी, वह हसकर कहने लगी—"एकदम धरती की बेटी है यह। मिट्टी के नाम पर सकोरा, दीया, ईंट, गमले सब तो इसके पेट मे जा चुके हैं।" लजाकर गमला-भक्षिणी ने अपनी मोटी काली गर्दन झुका ली।

मैंने उसे सिर से पैर तक देखा। गमला खा-खाकर उसका शरीर भी जैसे गमले ही के आकार का बन गया था। पिटे लोहे का-सा चेहरा, ऊची बधी धोती, शरीर से अटी-सटी कुर्ती, वह भी ऐसी तनी कि लगता था एक छीक आते ही बटन तडातड टूटते चले जाएगे। ध्यान से देखने पर, कोई भी नारी उसकी अस्वाभाविकता को जू-सा पकड सकती थी। न जाने कहा कुछ चूक रह गई थी विधाता से। चेहरे मे, आखो मे, चलने, उठने, बैठने मे, निरन्तर मजीरे से बजाए जा रहे घुटनो की गतिविधि मे कही कुछ हम सबसे निश्चय ही भिन्न था। नारी के स्वाभाविक मापदण्ड मे ठीक न बैठने पर भी, वह सम्पूर्ण रूप से नारी थी। इस विपन्न निर्वासन मे भी, पति की स्मृति उसे बार-बार विभोर कर रही थी, जब-जब उसकी मिट्टी खाने की कुटेव का उल्लेख किया जाता, वह सिर झुका लेती किन्तु उसके लजाने मे अभिनय का पुट नही था। किसी नारी की इस विशुद्ध नारी-सुलभ व्रीडा को, कोई नारी ही करपृष्ठ पर मले विशुद्ध घृत की भाति अपनी सूक्ष्म घ्राण-शक्ति से चट पहचान सकती है। मैंने भी भूल नही की। किन्तु, एक स्वाभाविक अगना जीवन की, कैसी अस्वाभाविक कहानी थी। पन्द्रह वर्ष की ही थी कि कर

ग्रहो ने जकड लिया। सगे जीजा के कुटिल चक्र ने ही, इस कोमल किशोरी को हवा मे विवशता से उड रही कागज की फिरकी-सा ही घुमा दिया। वह देखने मे थी एकदम स्याह, किन्तु अपने जीवन के पन्द्रह वसन्तो का प्रवेश-पत्र दिखाती, यौवन के भर मधुमास मे वह कोकिला, अम्बुवा की डार-डार पर कुहुकने लगी—एक-एक कर चौदह आम्रकुज उसकी मीठी कुहुक से गूज उठे। धीरे-धीरे सरल चेहरे पर कुटिलता का अगराज बिखर गया, भोली आखो मे कजर कन्या की चतुर चितवन का आजन अज गया, उठने-बैठने मे पहले की झिझक नही रही, अधर से लगे कर-सम्पुट, घाट-घाट के भरे पानी से छलक उठे। जीजा का प्रशिक्षण सम्पूर्ण रूप से सफल रहा था। किसी विवाह के लिए मचल रहे प्रौढ चिरकुमार, विधुर या पत्नी-परित्यक्त पति को, जीजा ढूढ लाता, साली को दिखाकर वह विवाह का प्रस्ताव ही नही रखता, 'चट मगनी पट व्याह' भी रचा देता। फिर विदा के उन क्षणो को वह लाडली, सहोदरा और स्नेही भगिनी-पति की देहरी छोडने मे अपने विलाप से धन्य कर देती। बिस्मिल्ला की शहनाई का-सा वह करुण स्वर, नये दामाद की भी आखे गीली कर देता। चेहरा स्याह था तो क्या हुआ, शरीर का तो एक-एक अग सवा-सवा लाख का था। प्रत्येक कृष्णवर्ण नव-यौवना की भाति, उसकी दशन-द्युति दर्शनीय थी। नये पति का विश्वास, वह अपने स्वस्थ यौवन का ब्रह्मास्त्र छोडते ही, प्राप्त कर लेती। कहा, क्या धरा है जानने मे। फिर उसे विलम्ब नही होता। मरी सौत के अकना, ककना या सास की जीर्ण पोटली मे छिपी सम्पत्ति, कृपण वृद्ध पति की चूल्हे के नीचे गाडी गई धनराशि, वह एक दिन लेकर सहसा चम्पत हो जाती। लाख ढूटने पर भी फिर न जीजा मिलता,

न साली। मिलती भी कैसे ? इस बार वह एक-दूसरे ही शहर मे, अवगुठनवती नवोढा बनी रोती-कलपती विदा हो रही होती। ऐसे ही वह विलाप करती, विदा होती और हसती, खिलखिलाती, सोने-चादी से मढी लौट आती। जीवन के बीस वर्षों मे ही वह, पूरे चौदह गृहो की परिक्रमा कर आई थी। भारत की वह सम्भवत प्रथम नववधू थी, जिसका कभी द्विरागमन नही हुआ, किन्तु एक दिन इसी चिर-स्वयवरा ने जीजा की निलज्ज ठगी प्रथा का स्वय ही उन्मूलन कर दिया। चौदह विवाहो के अनुभव ने, उसे वात्स्यायन के एक-एक सूत्र थमा दिए थे। चौदहवा पति था बूढा, जर्जर किन्तु अपनी दीर्घ अनुभवी दृष्टि से, उसने अपनी नवेली को चार ही दिन मे परख लिया। घाट-घाट का पानी पीकर, वह अब उसका अगूठा पकडने आई थी। इधर वह भी समझ गई थी कि मुख मे एक दात न होने पर भी, बूढे के पेट मे बत्तीसी है। एक दिन, जो भी हाथ लगा वही लेकर वह उडन-छू हो गई। जीजा ने, फिर पन्द्रहवी बार कन्यादान करने मे विलम्ब नही किया, पर इस बार बहता पानी बध गया, रमता जोगी चिमटा गाडकर जम गया, पन्द्रहवें पति से प्रेम करने की मूर्खता कर बैठी मग्गी। मुझे सहसा साकी की कहानी 'राउण्ड डजन' का स्मरण हो आया, अन्तर केवल सामान्य था, वहा नायक ठग था यहा नायिका।

मग्गी का पन्द्रहवा प्रियतम लोहार था। गर्म तपे लोहे पर, जब वह अपने लोहे-सी ही प्रलम्ब भुजग भुजाओ का प्रहार करता तो मग्गी उसे मुग्ध होकर, एकटक देखती रहती। कभी जी मे आता, उसके पैरो पर सिर रखकर, सब कुछ उसे बता दे—कैसे उसके जीवन के वय सन्धिकाल मे, स्वय उसका रक्षक जीजा ही उसका भक्षक बन

गया था। उस अनाथा किशोरी को, सगी वहन ने ही तो पतन के अन्धे कुए मे, धक्का मारकर गिरा दिया था। पर कही सब कुछ सुनकर, इस पति ने उसे क्षमा नही किया तव ? अव तक तो उसके इस स्वामी के लाड दुलार का अन्त नही था, ऐसे दुलार से परसी गई थाली को, क्या वह स्वय अपनी मूर्खता से लात मारकर ठुकरा दे ?

पुरुष तो अपनी पत्नी के एक ही प्रेमी का अस्तित्व नही सह सकता फिर वह तो पूरे पन्द्रह पाण्डवो की पाचाली थी। उसके सीमन्त मे तो पन्द्रह हाथो का भरा सिन्दूर था। उसका यह अटल अहिवात ही उसके जीवन का अभिशाप वनकर रह गया। पति ही नही उसकी सास भी उस मातृहीना के जीवन मे, साक्षात् जननी वनकर अवतरित हुई थी। ऐसी स्वस्थ हसमुख वहू, जो उसे जमीन पर पाव भी नही धरने देती थी, उसे वडे भाग्य से मिली थी। जव देखा वह किसी न किसी काम मे जुटी रहती है। कभी सास के सिर मे तेल ठोकती, कभी पैर के तलवे सहलाती, कभी उसके पलित केश उठा-उठाकर, काल्पनिक जुओ का सहार करने लगती।

उसे वचपन से ही मिट्टी खाने की कुटेव थी, आज तक सवने उसकी इस वचकानी आदत का मज़ाक ही उडाया था किन्तु सास ने देखा तो चट से टूटे सकोरे-दीये लाकर रखा दिए—"ले, खा वहू!" वडे लाड से उसने कहा था, यही नही, पास-पडोस मे कहती फिरी थी—"कोई सिरचढी चटोरी वहू होती तो कलाकन्द-वरफी मागती, वेचारी ने मागी भी क्या ? मिट्टी"

किन्तु मग्गी के भाग्य मे विधाता ने सुख नही लिखा था। उधर जीजा पानी से निकली मछली-सा तडपने लगा था, क्या हो गया इस

वार ? कही किसी लोभी ने उसके सोने का अण्डा देनेवाली बतख को, बीच ही मे चुरा तो नही लिया ? देख-सुनकर ही तो उसने साली को ऐसे घर भेजा था, जहा बूढी मोतियाबिन्द से धुधली आखो को छलने मे उसे इतना विलम्ब नही होना चाहिए था। एक-एक कर जब छह महीने बीत गए तब उसका माथा ठनका। एक दिन वह चेहरा-मोहरा यथासाध्य बदलकर अपने चौदहवें हमजुल्फ का भेद लेने पहुच गया। भेद लेने मे तो वह स्काटलैण्ड यार्ड के जासूसो को भी मात दे सकता था, पर बूढा भी तो घुटा उस्ताद था, उसकी पीठ मे भी आखें थी। एक तो घुटे ठग को दूसरे ठग ने छला था, उसपर दात से पकड-पकडकर सेंती सम्पत्ति चुरा, उसे वह छोकरी मिट्टी मे मिला गई थी। छले जाने का घाव, अब रिस-रिसकर, नासूर बन चुका था। लुक-छिपकर भेद लेने आए शत्रु को, उसने लपककर अपने खेमे मे खीच लिया। फिर चला साली-जीजा पर वह सनसनी-खेज मुकदमा। चार सौ बीसी के अपराध मे दोनो को लौह-कपाटो मे मूद दिया गया, किन्तु साली को सजा अपेक्षाकृत कम मिली। जिस दिन मैं गई उसके दूसरे ही दिन मग्गी का मुक्तिपर्व था, इसीसे काले चेहरे पर, खुशी के लड्डू फूट रहे थे। "जेल से छूटने पर भी क्या इसे अपने पति और सास का प्रेम पूर्ववत् मिल जाएगा ? अब तो वह इसकी कहानी सुन चुके होंगे।" मैंने दबे स्वर मे अधीक्षिका से पूछा।

"अजी इसकी सास, इससे अब भी उतना ही प्यार करती है—क्यों, है ना मग्गी ?" उन्होने हसकर उससे पूछा। मुझे लगा अपने सरल, निर्दोष स्वभाव के कारण, मग्गी अपनी सास का ही नही, जेल-अधिकारियो का भी हृदय जीत चुकी है।

"अरी, बोलती क्यो नही ?" उन्होने फिर गुदगुदाया ।

नतमुखी मग्गी के चेहरे पर, उदरस्थ किए पुहुप-शोभा-मण्डित असख्य गमलो की सुगन्ध बिखर गई, लजाकर उसने अपना, वाजिद-अली शाह का-सा चौकोर चेहरा और झुका लिया ।

"जब भी इसकी सास इससे मिलने आती है," अधीक्षिका कहने लगी—"कभी भी इसके लिए दीये-सकोरे लाना नही भूलती ।"

मग्गी ने अब लजाकर पूरा आचल मुह मे ठूस लिया था—"अब मैं कभी नही खाऊगी साब । कभी नही," उसकी मीठी हसी, तिमिल के पत्र-सम्पुट-से बहते किसी पहाडी निर्झर के स्रोत-सी छलकती, मुझे रससिक्त कर गई ।

मेरे जी मे आया, इस निभृत कारागार से विदा लेने से पूर्व, उस आनन्दमयी युवती के कान के पास मुख सटाकर कह दू—'खूब गमले खाती रहो मग्गी ! क्या पता कठोर धरित्री की सोधी सुगन्ध के प्रति तुम्हारा यह मोह ही, तुम्हे विषम परिस्थितियो के बीच भी खिलखिलाना सिखा गया हो । ईश्वर करे तुम्हारी सास, तुम्हारे चने-चबैने के लिए, इसी प्रेम से नित्य दीये-सकोरे जुटाती रहे, तुम्हारे काले नटवर-नागर के गर्म लोहा पीटते, काले भुजदण्ड, मृत्युपर्यन्त तुम्हारी काली आखो की मुग्ध चावनी बधाते रहे और तुम्हारी पन्द्रहवी ससुराल का यह द्विरागमन, सम्पूर्ण रूप से सफल बन उठे—आमीन !'

अलख माई

कारागार के भीम कपाटो मे मुदी, इन अभिशप्त बदिनियो से विदा लेने लगती हू तो दो चेहरे, सहसा मेरी स्मृति को झकझोर उठते हैं—क्यो, क्या हमारी कहानी नही लिखोगी ? इनसे मिलने से बहुत पहले तो तुम, हमीसे मिली थी जी ! दोनो जैसे मेरे सम्मुख हसती खडी हो जाती हैं, हाथ का सुदीर्घ चीमटा खनखनाती प्रौढा वैष्णवी और बूटे-से कद की, नगजडी बुलाक के लोलक के साथ-साथ, अपनी जीण खजडी हिलाती रजुला। ठीक ही तो कह रही थीं वे, चलते-चलते अतीत के अतराल मे, पल-भर को झाक गए उन चेहरो को न झाक लूगी, तो स्वय भी मुझे यही लगेगा कि पीछे कुछ छूट गया है। न उनके पैरो मे बेडिया थी, न चारो ओर घिरी कारागार की प्राचीरें। पैरो तले था, दुरूह पगडडियो का बिखरा वैभव, और सर के ऊपर था उदार नीलाकाश। जहा चाहे, झाकी-चाकी घूमती, सिर पर अपने पाप की गठरी साधे-साधे, घूमकर ओझल हो जाए ! न फिर उन्हे पुलिस का भय न ग्राम क

चतुर पटवारी का। यही किया था वैष्णवी ने। बद्री केदार, हरिद्वार, लछमन झूला सब जगह हाक लगाती घूमती, 'अलख माई भिच्छा दे'—आज से तीस वर्ष पूर्व की भिच्छा देनेवाली माई, अत्याधुनिका माई से कही अधिक उदार थी, कही अधिक धर्मभीरु। कुमाऊ के कौन-से गृहस्थ की ऐसी देहरी थी, जहा से सेली रुद्राक्ष की असख्य मालाए हिलाती कनफडा माई हाथ का खप्पर रिक्त ही लिए लौट सकती थी ? प्रत्येक शनि और मगल को दो नेपाली वैष्णविया न जाने कितने वर्षों तक नित्य हमारे द्वार पर भी, ऐसी ही सुपरिचित हाक लगाती—"अलख माई, भिच्छा दे।" और नित्य बडे कासे के कटोरे मे भरी खिचडी आटा पाकर, आशीर्वाद देती घर को जाती। उन सरल आशीर्वादो की मौलिक मिठास भी तो अनोखी ही रहती। "राजरानी बनो लली, पीठ पीछे भाई लाना, एक नही, दो नही, सात-सात भाई।"

परिवार नियोजन के इस युग मे, वैष्णवी के इस आशीर्वाद की कोई भी महत्ता नही रह जाती, किन्तु फिर भी जब द्वार पर खडे किसी भिक्षुक पर फटकार पडते सुनती हू—"क्यो जी भीख मागते शर्म नही आती ? हट्टे-कट्टे तो हो। नौकरी क्यो नही करते ? जाओ, भाग जाओ, भीख-वीख कुछ नही मिलेगी यहा।" मेरे कानो मे उस कापते कठ का वात्सल्य-पगा मीठा स्वर गूजने लगता है—"राजरानी बनो लली, पीठ पीछे भाई लाना, एक नही, दो नही, सात-सात भाई।

एक दिन, अचानक ही एक सर्वथा नवीन कठस्वर के आह्वान से चौककर मैने सर उठाया, तो देखा—एक ही वैष्णवी, हाथ मे बहुत लम्बा-सा चीमटा और कधे पर नन्ही-नन्ही हाथ की

सिलाई से गुथी, गैरिक थैली लटकाए खडी है। एक पल को मैं उसके निर्विकार मर्दाने चेहरे को देखती ही रही थी। कठोर मुख-मुद्रा, और उससे भी कठोर कठस्वर, "अलख निरजन! माई आज यही भोजन पाएगा"—उसके व्यक्तित्व के लिए पुलिग का प्रयोग ही उपयुक्त लगता था। एकदम सपाट चौडा सीना, बेहद लम्बा कद, चौकोर काठी, छोटे-छोटे छटे केश, ऊपर से सीधी और नीचे आकर अचानक फैल गई नासिका के उदार नथुने, जैसे हर पल सद्य दागी गई दुनाली बदूक की ही भाति गर्म धुआ छोडते जा रहे थे।

"सुन लिया बेटी? जा, भीतर खबर कर दो, माई आज यही भोजन पाएगा, यही गुरु महाराज का इच्छा हुआ है आज!" सचमुच ही बैठकर, माई ने चीमटा गाड, कधे का गैरिक झोला उतार दिया।

उस आदेश को सुनकर मैं सकपका गई। खाना तो हम खा चुके थे, दादाजी के साथ हम तीनो भाई-बहन अकेले ही रहते। महाराज, खाना बनाकर चले गए थे, अब अचानक आ टपकी, इस रोबदार वैष्णवी के लिए खाना कौन बनाएगा?

"माई, तुम बैठो। खाना तो हम खा चुके हैं। मैं अपनी बहन से कहती हू, तुम्हारी भिच्छा निकाल देगी।" मैंने बडी नम्रता से कहा।

"नही!" माई ने रोष से अपना गडा चीमटा उखाडकर, दो-तीन बार धरा पर पटका—"माई भोजन पाएगा जा, छिलुका लकडी, कढाई, तेल, बेसन, दही, मिर्चा सब ले आ। माई कढी-भात खाएगा—जा।"

मुझे उसकी प्रगल्भ धृष्टता पर क्रोध भी आ रहा था, पर न जाने उस चेहरे मे कैसा रौब था कि मैं सहमकर, अपनी बडी

वहन को वुला लाई। हमारे आने तक वह चीमटा गाडकर, अपनी तूवे-सी मोटी टागें फैलाकर वडे आराम से लेटी थी।

"आओ वेटी, ले आई ?" हमे देखकर वह अखरोट-वृक्ष के पुष्ट तने की टेक लगाकर वैठ गई। पूरी रसद, वर्तन, लकडी आदि लेकर हमने उसके सामने रख दी, थोडी ही देर मे उस फुर्तीली वैष्णवी ने दो पत्थरो का चूल्हा वना, आग जलाकर कढी चढा दी और चावल वीनती-वीनती एकदम हमारी ओर मुड गई।

"अलख गुरु ! कुछ पूछना है तो पूछ ले वेटी, माई वार-बार तेरे द्वार पर नही आएगा, आज तो गुरु ने भेज दिया, माई चला आया।"

पहले, हमारी समझ मे नही आया, पर फिर उसने थाली के चावलो से कुछ दाने चट से मुट्ठी मे भर लिए और आखें वद कर, होठो ही होठो मे कुछ वुदवुदाने लगी। एक अज्ञात भय से सिहर-कर हम उसे देखती रह गई, तव यह क्या कोई तान्त्रिक त्रिकालदर्शी दैवज्ञमार्त्तड गुरु की भैरवी थी ?

"वोल, क्या पूछना है ? शादी, व्याह ?" उसकी आरक्त आखें, अव कपाल पर चढी जा रही थी।

"मैं तो शादी कभी करूगी ही नही, पूछू क्या माई ?" मेरी वडी वहन ने हसकर कहा। कई जगह के रिश्ते वे स्वेच्छा से लौटा चुकी थी, और हमारे परिवार ने उनके कौमार्य-व्रत की घोषणा को एक प्रकार से स्वीकार भी कर लिया था। पर माई ने उस दिन उनके दृढ निश्चय की धज्जिया उडा दी। एक सशक्त फूत्कार के साथ, हाथ मे वद चावल के दाने उसने धरा पर विखेर दिए फिर कठोर स्वर मे गरजी, "तू विवाह करेगी, दुनिया की कोई भी ताकत तेरे व्याह को

नही रोक पाएगा।" उसके कंठस्वर की दृढता मे कुछ ऐसी सम्मोहिनी शक्ति थी कि मुझे लगा, बैंड के साथ झम्मक-झम्म करती, बड़ी-सी बारात सचमुच ही हमारे आंगन मे उतर आई है। अपनी अद्भुत भविष्यवाणी से हमे प्रभावित कर अब उस वैष्णवी ने उसकी कढी उतारकर, चावल की डेगची चढा दी और हमसे बतियाने लगी। मैंने देखा, उसका शरीर, कंठस्वर, छोटे छटे केश सब कुछ ही मर्दाना था, यही नही मोटे होठो के ऊपर सुस्पष्ट मूछो की, एक रेखा भी थी। एक पल को एक शंका ने शायद हम दोनो बहनो को ही सहमा दिया, कहीं वैष्णवी का वेश धर, हम अकेली बहनो को ठगने आया यह कोई धूर्त वंचक तो नही था? सकपकाकर, हम दोनो के शंकित दृष्टि के आदान-प्रदान को शायद उस चतुर माई ने भी भांप लिया—"क्यो बेटी, माई का चेहरा ऐसे क्यो देख रही हो? डर गईं क्या?" लपककर उसने मेरा हाथ पकड़ा और हंसने लगी। मैं उस विचित्र स्पर्श की चेष्टा करने पर भी, आज व्याख्या नही कर पा रही हू पर ऐसा लगा था जैसे कोई लिजलिजी छिपकली ही मेरे हाथ मे आ गई हो।

"माई का चेहरा ही ऐसा है बेटी," एक लम्बी सांस खींचकर उसने अपनी अस्वाभाविक मूछो की रेखा को संवारा, "नाम था लछमी, और ब्याह होकर आई तो सास ने घूंघट उठाते ही कहा—'अरे यह तो लछमी नहीं लछमसिंह' को ब्याह लाया है रे तू आनसिंह,' उसी दिन से हरामी हमारा दुसमन बन गया।" वैष्णवी का भारी कंठस्वर अजीब बैठा-बैठा-सा लग रहा था, जैसे अभी-अभी नजले से उठी हो। कंठ मे झूल रही चित्रविचित्री मालाओं पर हमारी दृष्टि निबद्ध देख वह हंस-हंसकर एक-एक माला मे हमारा परिचय कराने

लगी, "यह वडे गुरु महाराज की दीच्छा माला, यह मझले गुरु का दिया छोटा जप का माला, यह मसान के जप का रुद्राच्छ और यह पिरागराज के कुम्भ का तुलसीमाला।"

मेरी वहन भीतर गई और मुझे भी हाथ से उठ आने को कहने लगी, पर मुझे तो वैष्णवी की रसीली बातो मे महाआनन्द आ रहा था, मैं भला क्यो उठती ? खाती है तो वैष्णवी खाती रहे, मैं क्या उसके खाने मे नज़र लगा रही थी ? जानबूझकर ही मैंने अग्रजा के कृत-सकेत की अवहेलना कर दी। वैष्णवी ने आखे वद कर जमीन पर गुरु के नाम की तीन-चार कढी भात की वडिया-सी डाली, और हसकर मुझसे वोली, 'क्यो, खाएगी वेटी !"

सच कहू, तो उसकी चटपटी मिर्च-रगी कढी देखकर मन ललचा भी उठा था। पर छि, स्वय भिक्षा मे दिया गया अन्न क्या ग्रहण कर सकती थी मैं !"

खाना खाकर वैष्णवी ने देखते ही देखते वर्तन मलकर दर्पण-से चमका दिए और चीमटे से अगारे वीनकर चिलम सजा ली—पहले थैली से एक रगीन काठ की डिविया निकाली, फिर उसकी दो चुटकिया दोनो नथुनो ने भरी और अचानक धुआ उगलती दुनाली का रहस्य स्वय स्पष्ट हो गया। अव वह पालथी मारकर वैठी और आखें वद कर उसने एक लवी कश ली। चिलम का मादक धुआ उसे अव और मुखरा वना गया था।

"वाह ! माई आज तुमसे वहुत खुश है वेटी।" मैं चिलम थामे, उस दम लगाती रहस्यमयी वैष्णवी को मुग्ध दृष्टि से देख रही थी। कैसी चौडी हथेली थी, किसीको एक तमाचा धर दे, तो वही ढेर ! वैष्णवी थी या पहलवान ?

"तुम क्या दिन-रात चलती ही रहती हो माई ?" मैंने पूछा ।

गाजे से आरक्त नयनो मे सहसा स्निग्ध वात्सल्य छलक आया ।

"हा बेटी, माई ने बडा पाप किया है, इसीसे परभू ने सजा दिया है माई को । माई ! जाओ, दिन-रात चलता रहो, न रात नीद न दिन, जहा गुरु ने कहा वही चीमटा गाड दिया और गुरु ने कहा, अलख माई फेर चल दे—उखाडा चीमटा और चल दिया—बरफ, पानी, नौला, गाढ (नदी) तर जा माई । पाप किया है पिराश्चित कर । वही करता हू गुरु—वही करता हू "

उसने चिलम सहित अपनी चौकोर हथेलिया कपाल से टेककर अपने अदर्शी गुरु को नमस्कार किया और फिर एक कश लेकर, हिलने-सी लगी—

"गुरु ? कहा है तुम्हारे गुरु ?" मैंने पूछा, कैसे गुरु होगे भला जो अदृश्य बने अपनी शिष्या को उठने-बैठने का भी जादूई आदेश देकर फिर उडनछू हो जाते थे ।

"हा-हा-हा-हा !" वैष्णवी ने मुझे देखकर विचित्र अट्टहास किया—"पगला छोरी, गुरु क्या तुझे दिख सकता है ? वह तो कान मे आकर कह जाता है बस, ठीक जैसे हवा चलता—हर वक्त माई का साथ—रात-आधी रात घाट, मसान कही माई डरा, बस गुरु ने सर पर हाथ धरा—माई डर मत, हम तेरा साथ हू !" मसान घाट पर घूमनेवाली माई तब क्या वैष्णवी नही थी ? निश्चय ही वह किसी मसानी उदासी की चेली थी । मेरे रोंगटे खडे हो गए, कुछ ही माह पूर्व ऐसे एक भैरवी ने अचानक आकर हमारे ही एक आत्मीय के यहा अपना चीमटा गाड दिया था, गृहस्वामी के सरल सौजन्य का लाभ उठाती वह उन्हीके यहा जमी रही । माग-

मदिरा से वह अपने आराध्य का नित्य भोग लगाती, और देखते ही देखते उसने उस परिवार को मिट्टी मे मिला दिया। पहले, गृह के नन्हे पुत्र की मृत्यु हुई, फिर गृहस्वामी की, और अत मे स्वय गृहस्वामिनी को पागल बनाकर वह एक दिन जैसे अचानक महामारी-सी आई थी वैसे ही न जाने कहा अदृश्य हो गई। कही यह भी उसी अखाडे की तो नही थी ?

माई आखें वद किए, सहसा फिर झूम-झूमकर अलस स्वर मे वोल्ने लगी, "दस साल में जोगी माई का शादी हुआ, चार साल वाद माई ससुराल गया, मालिक का नाम था आनसिह। टनकपुर, हल्द्वानी, अल्मोडा सव जगह मोटर चलाता। आधा पिटरौल अपनी मोटर मे डालता आधा अपने पेट में। जव घर आता नशा मे चूर, जोगी माई को कभी सास मारता, कभी मरद। कभी कहता, लकडी ला। कभी कहता, घास काट ला। कभी भूखा-प्यासा माई को भैंस चराने भेज देता जगल। और भैंस भी था ऐसा हरामी कि जोगी माई को भगा-भगाकर मार देता। माई पूछता—'सासूज्यू हो, मायके जाऊ ?' तो गरम चीमटे से दाग देता, देख अभी भी 'डाम' (जले का चिह्न) पडा है सव। चिलम पेड से टिका, माई ने अपनी भगवा फतुई कुर्ती ऊपर उठा दी और उसके नारीत्व के शुष्क तूवी-से लटके प्रमाणपत्र देखकर, मैंने सकपकाकर आखें नीची कर ली थी। सचमुच ही वह नारी थी। पेट से लेकर पसलियो तक, क्रूर सास के गर्म चीमटे के अमिट चिह्न, गोदने की अमिट स्याही-से ही उभर आए थे।

"एक दिन माई को वुखार मे ही सास ने भैंस चराने भेज दिया, माई वहुत रोया—हम नही जाएगा सासू, उस वन मे वाघ लगा है,

हमको वुखार है । पर सास ने कहा—'जा, जा, वाघ ने तुझे खा लिया तो हम दूसरा वहू ले आएगा ।'

“ उस दिन, भैंस को भी सास ने मतर दिया था । भगाते भगाते जोगी माई का दम निकाल दिया, आखिर जाकर खडा हो गया हरामी 'भ्योल' (घाटी) के ऊपर । नीचे काली गगा, एक धक्का लगा तो चूर-चूर ! माई को वहुत गुस्सा था उस दिन, भूख का गुस्सा, सास का गुस्सा, मरद का गुस्सा, सव निकाला उसने भैंस पर । रोज-रोज माई को सताता है चडाल, ले जा !—वस एक धक्का दिया और धडाम से भैंस गिरा । ऐसे वह गया जैसे कुस (कुश)

“ माई रोता-रोता घर आया, सास ने पूछा—'क्यो रोता है, भैंस कहा है ?'

“ 'वोल छोकरी कहा है भैंस ?'

“ 'जगल मे ही है सासूज्यू, आप चलो तो दिखा दू ।'

“ आगे-आगे जोगी माई, पीछे गाली देता सास—वही चोटी पर, हम दोनो पहुचा । माई का सास था एकदम दुवला-पतला और माई था तकडा जवान

“ 'वोल, कहा है मेरी ढाई सौ की भैंस—कहा ?' उसने चिल्लाकर कहा ।

“ 'यहा' वोला माई और धकेल दिया हरामी को ! ऐसा वह गया जैसा कुस ” अब एक पल को माई चुप हो गई, उसका पाप क्या इतना ही था ?

“ लौटकर माई आया तो दरवाजे पर आनसिह खडा था, नशे मे चूर लाल-लाल आखें, और हाथ मे कुल्हाडी

“ 'वोल राड, तू अकेली कैसे आई, मेरी मा कहा है ? जानती नही

उस वन मे वाघ लगा है, फिर क्यो ले गई मेरी मा को ? जोगी माई को वहुत गुस्सा आ गया वहुत ! वाघ हरामी की मा के लिए लगा था, माई के लिए नही ?

“ ‘तुम्हारी मा नीचे गिर गई है,’ माई ने रोकर कहा, ‘जल्दी चलो हमारा साथ, अभी वाज के पेड मे अटका है तुम्हारी मा ’

“ आर्नसिह भागता-भागता माई के पीछे फिर उसी पहाड पर पहुचा, माई को एक थप्पड मारकर वोला—‘वोल हरामजादी, कहा है मेरी मा ?’

“ ‘यह कहकर माई ने उसे भी धक्का दे दिया ।

“वही तीखा पहाड और नीचे काली गगा । माई फिर घर नही लौटा । ओडयार मे, नैपाली वावा के पैर पकडकर सव पाप कबूल दिया माई ने । गुरु महाराज ने दीच्छा दिया और कहा—‘माई जा, दिन-रात चिमटा वजाकर भिच्छा मागकर खा, और भिच्छा मागकर पहन, ओढ ! तूने जीवहत्या किया है, यही तेरा पिराचित है, अब परभू तेरा मालिक और परभू सहारा है ।’ ”

चिलम उलटकर वैष्णवी ने थैली मे डाल दी, चीमटा उखाडा और हसकर खडी हो गई—“परभू तुम्हारा भला करे, माई अव चलेगा ”

इससे पहले कि मैं वहन को वुलाकर लाती, वह लम्वे-लम्वे डग भरती सीढिया उतर गई ।

यही मुखरा मर्दानी वैष्णवी, मेरी कहानी ‘लाटी’ की वैष्णवी है, यही ‘धुआ’ की और इसीकी काठी के चौखटे मे मैंने अपने उपन्यास ‘चौदह फेरे’ की वैष्णवी को वाधा है । कैसा जघन्य अपराध था उसका ! एकसाथ तीन-तीन हत्याए—भैस की, सास की और

पति की । प्रतिशोध की कैसी विकट भावना रही होगी उसकी ! ससार की किसी अदालत मे, यह ट्रिपलमर्डर केस नही चला, किसी न्यायाधीश ने उसे बदिनी बनाकर कारागार के कपाटो मे नही मूदा, किंतु बेडिया डाल दी स्वय उसकी अतरात्मा ने । भरी जवानी मे, सर पर भगवा कफनी बाधे, वह एक बार फिर उसी तीखी पहाडी पर खडी हो गई । चौथी निर्मम हत्या की उसने, स्वय अपने सत्रह वर्ष के यौवन की । खूनी के सधे हाथो ने इस बार उसी हृदयहीन क्रूरता से, अपने यौवन को नीचे धकेल दिया । तीखा पहाड और नीचे बहती काली गगा की तीव्र धारा ।

इस बार उसका यौवन ऐसे बह गया जैसे कुश ! इससे कठोर दड उसे और मिल भी क्या सकता था ?

एक ऐसी ही अदृश्य बेडियो मे जकडी दूसरी बदिनी से भी मेरा परिचय उसी अखरोट के वृक्ष के नीचे हुआ था । खजडी बजाती, चैत की 'भेटुली' के पर्व पर, मीठे करुण पहाडी 'ऋतुरैण' गाती, वह एक दिन सहसा आ गई थी, और फिर कई दिनो तक आती रही थी । उन दिनो पहाड मे, पेशेवर गायिकाओ का एक दल, चैत्र मास आरम्भ होते ही, समृद्ध गृहो मे 'ऋतुरैण' गाने जाया करता था, उनकी चाल-ढाल मे, अदब कायदे मे, वेश-विन्यास मे, कही भी उनके कलुषित पेशे की छाप नही रहती । अधिकतर गायिकाए चौडे काले मखमली किनारे की इकलाई पहने, सीधा पल्ला सर पर सवारे, पान दोख्ते से सनी मीठी हसी से पूरा मुहल्ला गुलजार कर देती, उन दिनो पहाड मे एक और भी कुप्रथा थी । समृद्ध गृहो के बुजुर्ग, वाणप्रस्थावस्था मे, अपने यौवनकाल की इसी बदनाम सगिनी की 'मिस्ट्रेस' को घर लाकर नि सकोच गृहिणी के आसन पर बिठा

देते। उनमे से अधिकाश सिन्थेटिक गृहिणियो का नाम 'राम' के पावन अक्षर से ही आरम्भ होता था जैसे 'रामकटोरी', 'रामप्रिया', 'रामप्यारी' आदि, जिस मुहल्ले मे एक-आध ऐसी रामनाम-धारिणी वास करती, वहा इस चैती गायिका दल की बैठक विशेष रूप से जमती। दुर्भाग्य से हमारे मुहल्ले मे, कोई भी ऐसी भाग्यवती नही थी किंतु हमारे ही एक रसिक आत्मीय के यहा इस दल का एक विशेष जलसा होता। खिडकी से उचक-उचककर, हमने उस दल की एक से एक सुदरी उर्वशियो की रूपसुधा का छककर पान किया था। एक दिन अनजाने ही मे उन्ही नाना जी के पास अखबार मागने चली गई थी। उस दिन जो दृश्य वहा देखा, वह मैंने न कभी पहले देखा था, न शायद कभी देख ही पाऊगी। हाथ मे सिगार लिए ही मेरे रिश्ते के नाना मसनद पर लेटे थे, उनके सिरहाने-पायताने, अगल-बगल, एक से एक सुदरी अप्सराए खिल-खिला रही थी, जैसा रग वैसी ही खुशबू, लगता था किसीने दस-बारह इत्रदान एकसाथ तोडकर कमरे मे बिखेर दिए हैं। उस इन्दरसभा मे अचानक सयानी पोती को देखकर नाना जी सकपका गए और स्वय मुझे भी पसीना छूटने लगा। किंतु व्यवहार-कुशल नाना जी ने फौरन परिस्थिति सम्हाल ली, "कहो नातनी कैसे आई", उन्होने हसकर पूछा।

"आज का स्टेट्समैन लेने आई थी।" मैंने कहा, पर जीभ जैसे तालू से सट गई थी।

"ओह लला, तुम्हारी नातनी है ये ? तब तो हम इन्हे बिठाकर चैत का शगुन जरूर करेंगी " देखते ही देखते पूरी गुनगुनाती मधु-मक्खियो ने मुझे अपनी रानी की भाति घेर लिया और गाने

लगी—

"जो भागी जियलो
यो दिन भेटौलो हो ।"

कही मीठी खिलखिलाहट, कही कोमल हथेलियो से मेरा चिवुक-स्पर्श, कही अपनी मातृत्ववचिता चिरशुष्क गोदी मे मुझे खीचने का असफल प्रयास ? मेरी रोनी सूरत पर तरस खाकर, नाना जी ने उन्हे डपटकर मुझे छुडा दिया था—"क्या कर रही हो तुम लोग, वेचारी लडकी घवरा रही है—ले वेटी, अखवार मेज़ पर धरा है उठा ले ।" मैं एक प्रकार से जान वचाकर भाग आई थी । नाना जी, गायिकाओ के से सौभाग्य से विधुर भी थे और नि सतान भी, पर वे उनके यहा कभी चैत का शगुन नही गा पाती थी । जिस घर मे वेटी न हो, वहा भला 'ऋतुरैण कौन मूर्खा गा सकती थी ? मुझे देखकर और नाना जी की पौत्री के रूप मे मेरा परिचय पाकर, हृदय के उच्छ्वास को उस दिन सभवत वे रोक नही पाई थी । वहुत दिनो वाद, मोपासा की कहानी 'मैडम टैलर्ड्स इस्टैब्लिशमेट' पढी तो मुझे एक पल को नाना जी का वही कक्ष याद हो आया था । मैडम की नन्ही भतीजी के वपतिस्मा के समारोह मे आया मैडम का रगीन दल, क्या एकदम नाना जी की वैठक मे जुटा दल नही था ? भाग तो मैं आई थी कितु 'देश' मे वधी ऋतुरैण की वह धुन, मुझे भुलाए नही भूलती थी —

"जो भागी जियलो
यो दिन भेटौलो हो ।"

प्रत्येक भाग्यवती कन्या के जीवन मे, यह दिन वार-वार आए !

इसी पक्ति को दुहराती रजुला जब खजडी खनखनाती मेरे सम्मुख खडी हो गई, तो मैं चौक उठी थी। सावला चेहरा, निमग्न आखें, वेदना-विधुर चेहरे पर करुण हसी और उसके कलुषित पेशे का स्मृतिचिह्न बनती जा रही सहसा नीचे धस गई नाक। शायद उसी बैठी नाक ने कठस्वर मे शहनाई की-सी नक्की मिठास घोल दी थी—

“क्या सुनोगी लली, ऋतुरैण, परी-चाचरी या रमौला ?” उसने हसकर पूछा था।

फिर तो वह कई दिनो तक आती रही और अपने कोकिल कठ मे सचित, लोकगीतो का स्वर्णकोष, हमारे सम्मुख औदार्य से लुटा-लुटाकर, हमे रिझाती रही। मैंने कितने गाने उससे सीखे, सुने, कितने झोली भर-भरकर शातिनिकेतन ले गई, कितनो से आश्रम की कनिका देवी, ज्योतिष देव वर्मन, सुचित्रा मित्रा जैसे प्रसिद्ध गायक-गायिकाओ के सुकठ को सीचा, उनका अत नही है। तिलककामोद, दुर्गा, देश इन तीन राग-रागिनियो मे ही तो कुमाऊ के लोकगीतो के प्राण बसे हैं, क्या अनोखी मुरकिया अपढ, अज्ञात, अनाम, लोककवियो की सरल कल्पना की, कैसी-कैसी उडान और सर्वोपरि, स्वय उस कोकिलकठी गायिका की अपूर्व स्वर-लहरी! लगता था इस नारी की सृष्टि ही विधाता ने गाने के लिए की है। अब कभी कुमारगधर्व की, स्वर-लहरी से कुशल लुकाछिपी सुनती हू तो लगता है, यह बाजीगरी आज से तीस वर्ष पूर्व, वह अपढ, वास्तविक सगीत-शिक्षा से अनभिज्ञ रजुला कहा से सीख गई होगी? गाती-गाती वह मीठी स्वर-लहरी का चरमबिंदु पाते ही, अचानक तारसप्तक को छू रही मीठी आवाज को, शून्य मे विलीन कर फिर धीरे-धीरे उठाकर

श्रोताओ को रस की चाशनी मे पागकर रख देती। न कोई साज न कोई ठेका, केवल एक टूटी सी खजडी, जिसकी मुई खाल को वह दियासलाई जलाकर, तपा-भर देती और कान के पास बजाती, आखे मूदकर स्वर साधती—

"नैनीताला नदादेवी
सोरे की भगवती"

आज से तीस वर्ष पूर्व, जब उससे पहली बार—

'वेड पाको बारोमामा
आहा काफल पाको चैता
मेरी छैला"

सुना था तो मुझे लगा था, सर के ऊपर, छतरी-सा तना अखरोट-तरु भी, जैसे लाल-लाल रसीले काफलो से लद गया है।

"रजुला ऐसा गाना तुमने किससे सीखा ?" हम पूछती।

"उससे," वह दोनो हाथ जोडकर आकाश की ओर उठा आखें मूद लेती।

ठीक ही कहा था उसने, ऐसा कठ, स्वर की ऐसी बाजीगरी, उसे वही कुशल शिल्पी प्रदान कर सकता था। वैसे वह 'ऋतुरैण', 'भगनौला', 'रमौला' सब कुछ गाती थी किंतु आत्महारा होकर गाती थी—देवता के गीत। एक गीत, उसे विशेष रूप से प्रिय था—

"मेरो कह्या नी कह्या
करिया नी करिया
मेरो सुणिया नी सुणिया
करिये छिमा
छिमा मेरो परभू !"

"'मेरा कहा-अनकहा, मेरा किया-न किया, मेरा सुना-अनसुना, सब क्षमा करो, क्षमा करो मेरे प्रभू !'"

गाती-गाती वह सुधबुध ही जैसे खो बैठती, आखो से आसू की धारा बहने लगती, खजडी पर थिरकती अगुलिया शिथिल पड जाती, और कभी कठस्वर को उठाती, कभी डुबाती। वह सुननेवालो को भी उठाती डुबाती, रुलाती जाती।

"ऐसा गला पाकर भी तुम भीख ही मागती रही रजुला ?" मैंने एक दिन उससे पूछा तो वह उदास हो गई। इधर कई दिनो की सगीत-शिक्षा ने हम दोनो के बीच गुरु-शिष्य का स्नेह-सम्बन्ध स्थापित कर दिया था।

"नही लली, तुम्हारी किरपा से, रजुला ने इस गले से बहुत माया जोडी, चाहती तो ऐसी दस-बीस कोठी खडी कर सकती थी।" उसने अपनी प्रलम्ब भुजा, हमारे घर की ओर बढा, फिर सहसा सकुचाकर समेट ली। पल-भर को धुधली आखो मे दर्प से जली गर्व की ज्योति उसी वेग से बुझ गई। तब ? मैं अपना कौतूहल रोक नही पाई—"कहा गई वह माया ?"

"नदी मे," उसने आवेगहीन कठ से कहा और शिथिल खजडी, टूटी खनक के साथ, उसीकी गोदी मे गिर गई।

मैंने उसके दोनो हाथ पकडकर कहा—"कहो ना रजुला, नदी मे कैसे चले गए तुम्हारे रुपये ?"

"लली," उसने उदास हसी हसकर कहा—"सुनकर क्या करोगी ? तुम लोग हो ऊचे बामणो की लली, हम जैसे पापियो को छू भी लिया तो हम तर गई। हमारा गगाजल हो तुम लली, तुम्हारा हाथ छूकर झूठ नही बोल सकती हम। सच कह रही हू लली,

इन्ही हाथो से पूरा चालीस तोला सोना वहा दिया रजुला ने—

चालीस तोला ? मेरी आखें फटी ही रह गई थी—

"हा लली !" कठस्वर मे किसी प्रकार की उत्तेजना का स्पर्श भी नही था—

'यही नही विट्टोरी (विक्टोरिया) के चार हजार नकद रुपये काठ की ठेकी मे ऐसे छलाछल छलक रहे थे जैसे कुडे का दानेदार दही, सव पाप वहा दिया भागीरथी मे "

"क्यो, ऐसा क्यो किया ? और अव गाना गाकर, दर-दर भीख मागती हो ?" मैंने पूछा। "पाप किया था लली, घोर पाप, किसी-ने सजा नही दी, भगवान ने भी आखें वद कर ली थी, किसीने नही पकडा मुझे।"

"कैसा पाप किया था तुमने रजुला ?" मेरे प्रश्न के साथ ही, उसका पीला चेहरा और भी पीला पड गया।

"हत्या की थी मैंने "

"हत्या, किसकी ?" मैंने सास रोककर पूछा।

"अपने वेटे की," उसकी आखें एकदम सूखी थी—लगता था उनके आसुओ का, आदिस्रोत ही, वहुत पहले सूख गया है।

"क्यो किया ऐसा !" मैंने सहमे स्वर मे पूछा।

"क्योकि उसकी शकल एकदम अपने वाप से मिलती थी, पैदा होते ही जिसकी शकल मैंने पहचान ली, वडा होता तो क्या लोग उसे नही पहचान लेते—सव जान जाते कि वह किसका वेटा है !" वह एक लम्वी सास खीचकर, फिर सयत स्वर मे कहने लगी—"नदी मे ले गई, अपनी आखें वद कर मैंने दुश्मन को डुवो दिया लली "

कैसी विचित्र थी यह मा ! पिता से पुत्र की शकल मिलती

थी इसीसे उसके प्राण ले लिए ? पिता की सी सूरत तो किसी भी पुत्र के लिए गौरव की बात है लज्जा की नही ।

“तुम नही समझोगी लली,” उसने हसकर मेरी पीठ थपथपाई थी ।

“पूरा गाव, उसके बाप को देवता मानकर पूजता था और फिर उसका बाप क्या मेरा पति था ? मैं तो थी नाचने-गानेवाली नरैण की (प्रभु की) दासी, घोर पापिन, कलमुही रजुला, क्या अपना कालिख उनके मुह पर पोछ सकती थी ? गाव छोडकर भाग गई, और पाप की पूरी कमाई, चलते-चलते उसी भागीरथी मे डुबो गई । कहा-कहा घूमी, कितने दु ख सहे, हे भगवान ! सुआमी गगनाथ ! सबूक भल करिया परभु !” (हे भगवान, स्वामी गगनाथ, सबका भला करना प्रभु !) रजुला ने दोनो हाथ कपाल से टेककर, न जाने किन-किन कुटिल कामियो के लिए, अपने आदर्शी प्रभु से क्षमा-याचना की । फिर कहने लगी—“ भगवान ने दड दिया, गला बैठ गया, सारे बदन मे फुसिया निकल आई । जो देखता, घिन्न से दूर सरक जाता । कभी कोई कोढिन समझकर धेला-पैसा फेंक देता और गुड खा, पानी पीकर किसी पेड के नीचे पडी रहती । कभी सपना देखती, छातियो से दूध बहा जा रहा है, कपडे भीग गए हैं, चौंककर चीखती पर आवाज नही निकलती । एक दिन मैंने उसी बैठी आवाज़ मे अपना वही गीत गाया—‘करिये छिमा, छिमा मेरा परभू ।’ धीरे-धीरे गला खुल गया, खोई आवाज़ फिर लौट आई । अब इधर-उठकर भीख मागकर पेट भर लेती हू—यही मेरी जेल है लली । जिस दिन बेडी कटेगी उस दिन चार कधो पर यही गाना गाती चली जाऊगी—

“ मेरो कहचा ना कहचा
करिया नी करिया

मेरो सुणिया नी सुणिया
करियै छिमा
छिमा मेरा परभू । ”

निश्चय ही, अब तक वह अपना यही प्रिय गीत गुनगुनाती महाप्रस्थान के पथ पर चली गई होगी, पर मेरे कानो मे तो अभी भी, कभी-कभी उसकी खजडी खनखना उठती है। कैशोर्य मे मिली मेरी यही सगीत-शिक्षिका मेरी कहानी ‘करियै छिमा’ की नायिका बनी। मैं तो उसे यही सामान्य गुरुदक्षिणा दे सकी, किन्तु वह मुझे जो कुछ दे गई, उस अनोखे ऋण से क्या मैं कभी उऋण हो सकती हू ?

इसमे कोई सदेह नही कि विश्व के उच्चतम न्यायालय से बहुत-बहुत ऊचा जो एक और न्यायालय है वहा न झूठी गवाही चलती है, न झूठी दलील। उस अनुपम न्यायतुला का न एक पलडा रत्ती-भर इधर नत हो सकता है, न उधर। और उन अदृश्य हथकडी-बेडियो की जकड इहलोक की बेडियो की जकड से कही अधिक कठोर होती है, कहीं अधिक दुर्धर्ष।

चांद

अपने शोख नीले रग के घेरदार गरारे को, किसी नृत्यप्रवीणा बाई जी की-सी कुशल घुमेर के साथ फैलाकर, वह अपने प्रिय टीले पर बैठी थी। बौनी कमीज़ के चटख गुलाबी रग की पारदर्शी झलक के बीच, उसका दु साहसी निर्लज्जता से किया गया उन्मुक्त यौवन-प्रदर्शन देख किसी भी सस्कारी कुलवधू के तन-बदन मे आग भडक सकती थी। फिर भी न जाने उस कलूटी के चेहरे मे क्या आकर्षण था कि जो भी उधर से गुज़रता, उसे एक बार मुडकर देख ही लेता। स्वय मैं भी तो उस दिन अपना लोभ सवरण नही कर पाई थी, यही नही, फोन कर मैंने अपनी प्रतिवेशिनी मानवी शुक्ला को भी बुला लिया था। इसमे कोई सन्देह नही, कि देखनेवाले को दोनो ही चेहरे समान रूप से बाधते हैं, अत्यन्त सुन्दर और हतकुत्सित। मैंने जब पहली बार उसे देखा तब उसकी सस्ती सज्जा देख मेरा सर्वाग घृणा से सिहर उठा था। काला रग, वह भी ऐसा कि कोई अन्धेरे मे देख ले तो चौंक उठे। उस काले रग पर बोतली हरे रग का चकमक

करता दुपट्टा, होठो पर सस्ते लिपस्टिक की गाढ लालिमा और दोनो ओर चोटियो पर लगे, अर्धचन्द्राकार चमचमाते सोने के क्लिप। दुपट्टा अपूर्व कौशल से, सुराहीदार ग्रीवा मे, मफलर की लपेट मे लिपटा दिया गया था, जिससे उस काले राजमहल की पत्थर की-सी बनी इमारत की दर्शनीय गुम्बदी मीनारें अनदेखी न रह जाए। उसके बाद जब भी मैंने उसे देखा, उसकी सज्जा उतनी ही सस्ती, उतनी ही शोख और उतनी ही मारात्मक रहती।

उस दिन वह शायद एकदम ही कोरी साटन का गरारा पहनकर अपने गढटीले पर बैठी थी, इसीसे नये साटन की चमक हमारी आखो को ऐसे चौंधियाने लगी, जैसे कोई सूरज की ओर आईना लगा, हमारी आखो पर किरनें फेंक रहा हो। मानो भी मेरा कन्धा पकड पर्दे के पीछे दुबकी, उसे एकटक देख रही थी।

"देख रही हो ना ? बेहया का दुपट्टा देखो ज़रा," मैंने कहा।

"क्यो क्या बुराई है जी ?" मानो हसकर बोली—"कम से कम दुपट्टा तो ओढ लिया है। मैं तुम्हे भले घरो की ऐसी बीसियो कन्या कुमारिकाए दिखा दू, जो दुपट्टा ओढती ही नही। कुमारी कन्याए क्यो, अपनी मिसेज़ कोहली को ही ले लो ना। कल ही तो देखा था। चारखानी लुगी पहने, उत्तरीय-विहीन मिसेज़ कोहली, क्या अपने गोश्तवाले को भी मात कर रही थी या नही ?"

मैं चुप रह गई, कहती भी क्या ? स्वय विधाता के कार्यकलाप मे त्रुटि निकाल, उस्तरे से सफाचट की गई भौंहो पर पेंसिल की कमान-सी रेखा, पलको पर किया गया नवीनतम शृगार-प्रलेप, नाभिदर्शनो की दुहाई देती, ऐसी निर्लज्जता से नीची बधी साडी कि अच्छी-अच्छी सुसस्कृत आधुनिकाओ की आखें भी कपाल पर चढ जाती,

उसपर अत्यन्त मिनी कचुकी, जिसे वह अपने पति के साथ मारवाड के किसी सेमीनार मे जाकर ठेठ राजस्थानी कारीगरो से हाथ से सिलवाकर लाई थी। राजभवन के सहभोज मे, जिस दिन मैंने पहली बार मिसेज कोहली को देखा, सम्मुख धरे राजभवनी छप्पन व्यजनो को चखना भूल मैं अपने सामने बैठी उस अद्भुत रूप से दु साहसी शृगारप्रिया की अनुपम सज्जा को ही चखती रह गई थी। मेरी ही नही, मुग्ध पुरुषो की चकित दृष्टि भी उन्हीपर निबद्ध थी। मिसेज कोहली एक बहुत बडे अफसर की पत्नी ही नही, सुगायिका भी थी। एक सुप्रसिद्ध, अवकाश-प्राप्त बाई जी से वह नियमित रूप से गाना भी सीखती थी। शहर का कोई भी सगीत-जलसा होता, हाथ मे गजरा लपेटे, पेशेवर कोठेवालियो के कटाक्षो को भी फीका करती मिसेज कोहली दाग, मीर और गालिब के कलाम से वातानुकूलित भव्य प्रदर्शन-गृह को, अपने मजे कठस्वर से गुजा देती।

"क्यो चुप हो ?" मानो मुझे जानबूझकर ही छेडने पर तुली थी। "ईमान से बताना, हमारी कामिनी कोहली क्या तुम्हारी इस चाद से कुछ कम है ? अन्तर इतना ही है कि उसके पति एक उच्चपदस्थ अफसर हैं और चाद "

"और चाद के पति अगुलियों पर नही गिने जा सकते," मैंने हसकर उसे बीच ही मे टोक दिया।

सचमुच ही, क्या नही किया था इस अभागी ने। पहले कर्नल सोनी की गृहस्थी मे विष घोला, मिसेज सोनी के यहा आया बनकर गई और तीसरे ही महीने उनकी सौत बनकर लौटी। अच्छी-भली मिसेज सोनी को पागल बना दिया हरामजादी ने। फिर उस

मद्रासी इंजीनियर के साथ नाक कटवाई।"

"पर एक बात माननी पडेगी," मानो ने हसकर कहा—"रुचि है छोकरी की, बडे ही शिकार पर टूटती है, क्यो ?"

"नही, ऐसी बात नही है," मैंने कहा था—"केवल खीर-मिष्टान्न ही नही चखती महारानी, भुने चने, लाई से भी परहेज नही है अभागी को।"

"मतलब ?" मानो मोढा खींचकर बैठ गई।

'देख लो ना खुद ' " मैंने उसे हाथ पकडकर खडा कर दिया था।

एक लम्बा-चौडा पठान-सा रिक्शाचालक रिक्शा रोककर उसके सामने खडा हो गया। एकदम ओडिसी की मुद्रा मे, छाती पर दोनो हाथ धरकर, उसने बाकी अदा से गर्दन पीछे झटक, अपने कटाक्ष का अचूक हथगोला फेंका और रिक्शाचालक वही पर चित हो गया। हम दोनो पर्दे की ओट से वह सस्ती नौटकी देख रही थी। उसने फटी बनियान को उठाकर, विवर्ण पाजामे के नाडे मे बधा बटुआ खोला और एक-एक के दो-तीन पाडुजीर्ण नोट निकाल लिए। एक बार इधर-उधर देख, उसने फिर वही पत्रपुष्प आराध्य देवी के चरणो मे रख दिए। बेचारे की न जाने किन-किन थकान-प्रद रिक्शा-यात्राओ से अर्जित की गई गाढे पसीने की वह कमाई हमारे देखते ही देखते फुर्र-से हवा मे उड गई। उसके आते ही चाद ने आइसक्रीमवाले की ठेलागाडी को रोका, पल-भर को उसे भी अपने कटाक्षो मे बाधा, और तीन के दाम देकर चार बाल्टिया एक-साथ लेकर खाने लगी। आइसक्रीमवाले ने शायद कम पैसे मिलने की शिकायत की, जिसपर तुनककर उसने अपना काला मोटा अगूठा

उसे दिखा दिया। चाद की वह अनोखी अदा देख, वह काना आइस-क्रीमवाला गद्गद होकर कुछ जोर से ही कह बैठा—"क्यो नाराज होती है महारानी, पूरी गाडी ही तेरी है—और दू ?"

"देख रही हो ना !" मैंने मानो को ठसकाया—"हाड-मास जल जाते हैं इसे देखकर, दिन-रात यही बैठी, यही सब करती रहती है। हर फ्लैट मे जवान लडके-लडकिया हैं, तुम्ही सोचो, क्या असर पडता होगा उनपर !"

पर मानो को अब भी उसी निगोडी से सहानुभूति थी—"कैसी बचकानी बातें करती हो जी," वह कहने लगी—"यह न होती तो उन्हे क्या कुछ और नही मिल सकता ? हिन्दी फिल्मो की कैबेरा-नर्तकी को भी हटा पाओगी क्या तुम ? मुझे तो भई इस शोख लडकी पर तरस ही आ रहा है। न जाने किस कुठा ने इसे ऐसा बना दिया है। किसी भली सहृदया स्वामिनी के हाथ मे पडकर इसीकी काया-पलट की जा सकती है।"

"तब, तुम ही क्यो नही रख लेती इसे ? कई बार मुझसे आया ढूढने को कह चुकी हो। यह नौकरानी क्या बुरी है। क्या पता, शायद तुम्हारे सस्कारशील गृह का गगाजल इसे भी पवित्र कर दे।'

मैंने तो मजाक ही किया था, पर मानो को क्या निश्चय लेने मे कभी देर लग सकती थी ? मैं उसे रोकती, इससे पहले ही वह उसे तालिया बजा, 'हिश-हिश' कहकर पुकारने लगी थी।

पहले चाद ने देखा, और अपनी गर्वीली ग्रीवा ऐसे फेर ली, जैसे कुछ सुना ही न हो, पर फिर मानो ने कुछ जोर से ही हाक लगाई—"अरी ओ लडकी, बहरी हो क्या ?"

"जी, मुझे बुलाया ?" वह बडी नम्रता से उठी तो उसका घेरदार नीला गरारा अन्तहीन नीलाकाश-सा ही दूर-दूर तक फैल गया ।

"हा जी," और क्या तुम सोच रही हो मैं तालिया बजाकर कव्वाली गा रही हू ?" आनन्दी मानो के उपालम्भ ने कलूटी को हसा दिया । सचमुच ही उसके स्वच्छ दातो की छवि अनुपम थी । वह निकट आई, और मैंने पहली बार उसे ठीक देखा । सस्ते इत्र की तीव्र गन्ध से हम दोनो का सिर एकसाथ चकरा गया । वह नि सकोच आकर हमारे सामने खडी हो गई । एक पल को उसकी सस्ती सज्जा के बीच झाक रहा उस निर्लज्ज स्वस्थ युवती का मुहफट यौवन हम दोनो को एकसाथ भाला-सा मार गया । क्या ब्लाउज के भीतर रोडे बाध लिए थे बेहया ने ? एक सेकण्ड के लिए, मुखरा मानो भी जैसे वाणी खो बैठी । फिर हस-हसकर उसने ही पूछा—"क्यो, नौकरी करोगी ?"

"जी !" चाद ने अविश्वास से हम दोनो को बारी-बारी से देखा । हमारे प्रस्ताव की गुप्ती मे कोई घातक छुरी की फाल तो नही चमक रही थी ? इसी बस्ती मे तो, अभी दो फ्लैटो से उसका हृदयहीन निष्कासन हुआ था, फिर एक प्रसिद्ध क्लब मे किसी गैंग के साथ शराब पी-पीकर विवस्त्रा बनी इसी मदालसा कराली को पी० ए० सी० की विराट गाडी चार ही दिन पहले पकडकर ले गई, तो पटापट करते तीसो फ्लैटो की खिडकिया खुल गई थी । एकसाथ इतने साहब-मेमसाहब लोगो को अपनी दुर्दशा की चटकारिया लेते देख, वह निर्लज्ज धृष्टा जानबूझकर ही पास बैठे दारोगा पर गिर-गिर पडी थी । स्वय मानो ने मेरी ही खिडकी से उसकी यह

जेलखाना देखी थी। शायद चाद ने भी उस दिन हम दोनो को देख लिया था, इसीसे हमारा प्रस्ताव उसे चौंका गया। सुहासिनी ने हमारी ही आखो के सामने तो इतनो को डसा फिर भी हम उसे स्वय उसे डसने का प्रलोभन दे रही थी ?'

"अजी हा नौकरी, ये मेम साहब कह रही है कि तुम्हारी नौकरी फिर छूट गई है।" मानो मेरी ओर कनखियो से देखती बडे व्यंग्यपूर्ण ढग से मुसकराई।

चाद सिर झुकाए चुप रही पर मानो उसे अपनी सरल सीमित गृहस्थी के नाना प्रलोभनो का उत्कोच देकर लुभाने लगी।

"एकदम छोटा-सा कुटुम्ब है हमारा। हम, साहब और बेबी। काम भी ऐसा कोई खास नही है। डेरीवाला दरवाजे पर ही रुकता है, बाजार करने मैं खुद जाती हू, इस्तरीवाले का ठेला हमारे ही नीम तले खडा होता है। कोयला मैं जलाती नहीं, गैस पर खाना बनता है। बस बेबी का खाना पहुचाना होगा, वह भी स्कूल दो कदम पर है।" एक सास मे, चाद के ऐसे मखमली भविष्य का खाका खीचकर मानो हाफने लगी पर चाद फिर भी चुप रही।

मैंने मानो को कुहनी से ठेलकर अग्रेजी मे कहा—"अब चुप भी कर। देखती नही, उनके लिए साधारण नौकरी का कोई आकर्षण नही है, वह केवल असाधारण नौकरी ही किया करती है। 'क्यो चाद ?'" पर मानो के सिर पर तो जैसे मौत नाचने लगी थी।

"तनख्वाह भी कम नही दूगी। चालीस रुपया और नाश्ता-खाना, साथ मे कपडे, साबुन, तेल ' अब उन कुटिल आखो मे पल-भर को एक चमक-सी आई।

तनख्वाह तो कुछ बुरी नही थी, जैसे वह मन ही मन हिसाब

लगा रही थी ।

"मुझे क्या दिन-रात कोठी पर रहना होगा, मेम साहव ?" उसने रात पर ही अधिक जोर देकर ऐसे पूछा जैसे उसे दिन से अधिक चिन्ता रात की ही थी ।

"नही-नही," वडी उतावली से हसकर मानो ने कहा—"रात क्यो रहोगी ? आठ वजे छुट्टी दे देंगे जी । पर देखो, कभी कभार मुझे पार्टी-वार्टी मे जाना पडे तव जरूर तुम्हे वेवी के साथ रहना पडेगा । पर फिर हम तुम्हे खुद अपनी कार मे घर पहुचा देंगे ।"

चाद अव आश्वस्त होकर मुसकराने लगी । रात न रहना पडे तव उसकी निशाचरी वृत्ति की ऊपरी आमदनी को भला कौन रोक सकता था । जेव-खर्च को ये चालीस रुपये क्या बुरे थे ?

'जी, मैं करूगी," उसने अपनी सलज्ज विनम्र स्वीकृति दे दी और मानो तो जैसे उछल ही पडी—"वस-वस, तुम कल ही से काम पर आ जाना, समझी ? वही फ्लैट है हमारा, इन मेम साहव के वगलवाला ।"

"जी " वह वडी नम्रता से हाथ जोडकर चली गई ।

मैंने स्वप्न मे भी नही सोचा था कि मजाक-मजाक मे उसके गले पर उलटी धरी गई मेरी तेज छुरी, वह स्वय सीधी कर अपना गला चाक कर लेगी । चाद गई तो मैंने घवराकर उसके दोनो हाथ पकड लिए ।

"क्या कर रही हो तुम मूर्ख ? जानवूझकर ही इस घिनौनी वदनाम औरत को तुम अपने घर मे किस दु साहस से न्योत रही हो ?"

"क्यो ? उसने हसने की चेष्टा की, किन्तु कापते अधरो के कोर मुझसे छिपा नही पाई—जे० के० को तुम जानती हो, उसे ससार की किसी सर्पिणी का विष नही व्याप सकता, इम्यून है वह "

ठीक ही तो कह रही थी वह। वही तो उस विचित्र व्यक्ति का एकमात्र गुण था। चरित्र एव मनोबल के उस अनोखे तेज से दीप्त, उसके चेहरे का आकर्षण द्विगुणित हो गया था। न वह कभी आवश्यकता से अधिक बोलता, न व्यर्थ हसता, न इधर उधर जाता। लत थी तो बस दो—एक सिगार, दूसरी ब्रिज। कोई भी ब्रिज की बैठक उसके बिना जम नही सकती थी। कहा जाता था कि ब्रिज का ऐसा बेजोड खिलाडी शहर मे ढूढे से भी नही मिल सकता था। कभी-कभी मानो मेरे पास आकर अपना दुखडा रोने बैठ जाती—

"समझ मे नही आता बहन, इन पढे-लिखे जुआरी अफसरो को कोई क्यो नही पकडता। आए दिन तो अखबारो मे खबर छपती हैं, कि शहर के किस गैंबलिंग डेन पर किसी चतुर पुलिस अधिकारी ने छापा मारकर जुआरी पकड लिए, पर ये जो ऊची कोठियो मे ऊचे अफसरो का, ठीक पुलिस अधिकारियो की नाक के नीचे, ऊचा जुआ चलता , इसपर कोई क्यो छापा नही मारता ? मेरा बस चले तो इन सधे जुआरियो को भरे-बाजार जूते लगवाऊ।"

मानो को स्वय ताश के खेल से सख्त नफरत थी। पति के साथ वह चली अवश्य जाती, पर लाख प्रलोभन दिए जाने पर और ब्रिज की कुशल खिलाडी होने पर भी वह कभी उस अखाडे मे नही उतरी।

"घर की सम्पत्ति लुटाने के लिए घर का एक ही सदस्य क्या कम है ?" वह हसकर कहती और किताब खोलकर बैठ जाती। कभी-

कभी बैठक आधी-आधी रात तक चलती रहती, इसीसे नेवी के पास बिठाने के लिए उसे एक आया की तलाश थी।

"भला हो तुम्हारा," वह हसकर कहती उठ गई—"आज बैठे-बिठाए भगवान ने इसे भेज दिया। जब से पुरानी आया गई, मैं जे० के० के साथ जा ही नही पा रही थी।"

मेरा और मानो का परिचय अब करीब-करीब साल-भर का हो चला था, और उस विलक्षण नारी का अद्भुत चरित्र इधर मुझे पग-पग पर आश्चर्यचकित करता जा रहा था। इस छोटी-सी अवधि के सहवास मे ही वह मेरे अत्यन्त निकट आ चुकी थी, उसकी शायद ही कोई बात मुझसे छिपी थी। उसका सदाबहार चेहरा, होठो पर निरन्तर थिरकनेवाली भुवनमोहिनी हसी, पडोस-भर का सिर-दर्द बटोरकर, हसते-हसते स्वय झेलने की अद्भुत शक्ति देखकर मैं कभी-कभी दग रह जाती। कैसी सुन्दर जोडी है और कितने सुखी हैं दोनो। लोग कहते, तो मुझे मन ही मन हसी आ जाती। उन आखो मे छलछला रहे वेदना के उस अगाध उदधि को क्या कोई आज तक देख सका था? क्या कोई कभी सोच सकता था कि दिन-भर प्रतिवेशी परिवारो के साथ उठती-बैठती खिलखिलानेवाली, विवाह-मुण्डन के सगीत-जलसो मे किसी पेशेवर बाईजी की-सी अदाकारी से स्त्री-समुदाय को घायल कर देनेवाली यह चचल चकोरी रात को तकिये मे सिर गडा फूट-फूटकर रोती है। केवल मैं ही जानती थी कि होठो की उस स्वाभाविक हसी के लिए उसे अपने कलेजे की किस टीस पर कैसी बोझिल शिला रखनी पडती है।

यह जानकर भी मैं उसका इतना बडा अनिष्ट कैसे कर गई? लड-भिडकर मैंने क्यो उसे अपने सुझाव की व्यर्थता नही समझा

दी ? पर कहते हैं कि पाप स्वीकार कर लेने पर फिर पाप नही रह जाता—आज इसीसे एक-एक बात अपनी हठीली स्मृति से उगलवाती चली जा रही हू ।

मानो का दाम्पत्य-जीवन ऐसा ही था जैसे रेशमी, चमकते पलगपोश से ढका गूदड, फटा विस्तर । यदि कोई निकट जाकर दुस्साहस से पलगपोश खीच लेता तो उसे वसाते चीकट चीथडे देखकर निश्चय ही दो कदम पीछे हटना पडता । मैंने यही दुस्साहस किया था, किन्तु मैं दो कदम पीछे न हटकर वडी धृष्टता से आगे ही बढती चली गई थी और एक-एक चीथडे का सही मूल्याकन मैंने अब पूर्ण रूप से कर लिया था । मानवी शुक्ला और जे० के० के स्वभाव मे ही नही, दोनो के पितृकुल के रहन-सहन, अदव-कायदो मे भी कही कोई साम्य नही था । एक का स्वभाव उत्तर था तो दूसरे का दक्षिण । वैसे तो प्रत्येक सुखी दाम्पत्य-जीवन के लिए कलह का अस्तित्व भी एक प्रकार से अनिवार्य है । जीवन-भर आकण्ठ प्रेम मे डूबे दम्पती कभी वैवाहिक जीवन के सच्चे सुख को नही जान सकते । एक न एक दिन उनके इस प्रेम-प्रदर्शन मे वनावटी अभिनय का पुट स्वय ही आ जाता है । जीवन-भर कवूतरो की भाति चोच मे चोच दिए गुटरगू करना भी भला कोई जीवन है । स्वस्थ राजनीतिज्ञ की ही भाति पति भी प्रखर विरोधी के अभाव मे स्वय ही कुण्ठित होकर जड हो जाता है । किन्तु मानवी को देखकर मेरी धारणा अब धीरे-धीरे वदलने लगी है । यह तो एक ऐसी जोडी थी, जिनका नित्य का कलह कभी-कभी मेरा भी सरदर्द वन उठता था, उस गृहस्थी का सन्धि-विराम कभी शत्रुपक्ष को आश्वस्त नही कर पाता । मानवी के पिता ने कानून घुट्टी मे घोलकर पिया था, उसके परिवार

के वकीलो ने अपनी दक्ष दलीलो के कावर भर-भरकर धन वटोरा था। मानवी पिता की मुहलगी इकलौती सन्तान थी। मातृहीना पुत्री को साहवी शिक्षा दिलाकर, जज साहव ने भावी जामाता के जैसे सुनहले सपने देखे थे, उन्हे स्वय चूर-चूर कर मानवी ने स्वेच्छा से ही प्रौढ दुहेजू जे० के० के कण्ठ मे वरमाला डाली थी। जिस व्यक्ति के कठोर व्यक्तित्व पर वह रीझी थी, वही धीरे-धीरे उसके लिए अभिशाप वन वैठा। मानवी को शोख रगों से लगाव था, और जे० के० लाल रग देखते ही साड-सा भडक उठता, मानवी को तला-भुना, मिर्च-मसालेदार खाना रुचता था, जे० के० ने शायद पत्नी को ही और चिढाने, अपनी अपूर्व इच्छाशक्ति से पेट मे अल्सर की छोटी-मोटी नर्सरी वना ली थी, अव वह केवल मूग की दाल और उवली लौकी खाता था। कभी कोई जलसा होता तो मानवी वडा-सा जूडा वनाकर वेले का गजरा लगा लेती, और फौरन ही जे० के० तुरप लगा देता—"क्यो, कोठे मे वैठने जा रही हो क्या ?" वस उसी क्षण गजरा नोच-नोच, जूडा विखेर, भूतनी-सी वनी मानो कोप-भवन मे घुस जाती। एक सेर था तो दूसरा सवा सेर, न जे० के० दवता, न मानो झुकती, इसीसे दोनो ही नित्य साप-नेवले की भाति तने रहते कि अवसर पाते ही कौन किसे पहले दवोच ले! मुझे तो लगता था कि दोनो के वीच यदि वह चाद-सी वेवी न होती तो निश्चय ही आपस मे दिन-रात खनकते काच के ये दो वर्तन कव के टूट गए होते! विवाह को पूरे पाच वर्ष के सूखे के पश्चात् मानो की जीवन-मरुभूमि को वात्सल्य-वृष्टि ने सिंचित किया था। हिरोशिमा की जली-झुलसी भूमि मे उपजे प्रथम तृणाकुर की ही भाति अव वह अर्धमृत, दग्ध दो प्राणो को जीना सिखा रही थी।

मानो का कहना था कि उसकी सास की अतृप्त आत्मा ही उसके दाम्पत्य-जीवन के नित्य कलह का कारण है। जे० के० के प्रथम और अन्तिम प्यार का प्रतीक वनी उसकी अशरीरी आत्मा उसके जीवन मे निरन्तर मडराती रहती है। न जाने कितनी बार वह मानो को सपनो मे आकर चेतावनी दे गई है कि वह एक न एक दिन उससे प्रतिशोध लेकर ही रहेगी।

"वह अब भी उसीकी याद मे खोया-खोया रहता है। मैं जानती थी कि वह उसे कभी भूल नही पाएगा।" उसने एक दिन मुझसे कहा।

"तब उसने तुमसे विवाह क्यो किया ?" मैंने पूछ लिया।

"तुम भूल जाती हो," उसकी उदास आखें अपनी विगत कोर्टशिप की स्मृतियो से रसभीनी हो उठती—"विवाह मैंने उससे किया था, उसने नही। वह तो किसी गुरु से दीक्षा लेने हरिद्वार जा रहा था।" उस वैराग्य के कारण को भी दुर्भाग्य से मानो जानती थी। उसकी प्रथम पत्नी, रिश्ते मे मानो की ही मौसेरी बहन थी। बेहद नाज़ुक गोरी दुवली-सी उस लडकी मे असाधारण कुछ भी नही था। वह वैसी ही साधारण लडकी थी, जैसी उन दिनो हर हाईस्कूल पास लडकी हुआ करती थी। पर जे० के० उसके पीछे दीवाना था, मानो की वही सौत जे० के० को आठ-आठ पृष्ठ के प्रेमपत्र लिखकर, पत्र का आरम्भ और अन्त वडे कौशल से छिपा, अंग्रेजी कविताओ के कोटेशन लिखवाने अक्सर मानो ही के पास आती थी, फिर अचानक ही असमय के प्रसव ने उसके सुखी वैवाहिक जीवन का अन्त कर दिया। मानो का विवाह हुआ तो लोगो को जे० के० के सौभाग्य पर निश्चय ही ईर्ष्या भी हुई होगी, क्योकि स्वस्थ सुन्दरी

मानी का व्यक्तित्व असाधारण था, चेहरा ही नही बुद्धि का कोठा भी ठसाठस भरकर ही वह पति की उजडी-वीरान गृहस्थी सभालने आई थी, यही प्रखर बुद्धि तो उसकी शत्रु बन गई। पति रूप मे, पितृकुल के वैभव मे, व्यक्तित्व मे पत्नी का लोहा मान सकता है, किन्तु बुद्धि मे यदि पत्नी का पलडा भारी हो तो वह तिलमिला उठता है। एक ही महीने मे वह जान गया कि मानो के ज्ञान के भण्डार की तुलना मे उसका ज्ञानकोश एक प्रकार से रिक्त ही है, पहली भोली अल्हड पत्नी को वह जैसे तर्जनी पर नचा सकता था, इसे नही नचा पाएगा। यही नही, उसने जरा भी ढील दी तो यह विलक्षण युवती उसे चट अपने ही अगूठे तले दबा देगी। इसीसे वह आरम्भ से ही सावधान हो गया। अपने कठोर अनुशासन, गाम्भीर्य एव अनुकरणीय आदर्श की अमिट लक्ष्मण-रेखा मे अपनी दूसरी पत्नी को बाधकर, वह स्वय घेरे से दूर छिटक गया। किन्तु फिर भी मानो ने हार नही मानी, अपने गृह-कलह की दुर्गन्ध को वह अपने आनन्दी स्वभाव की अगरु से मिटाकर उडा देती, पर मेरे नथुनो को वह छल नही पाई। इलायची खा लेने पर भी क्या लहसुन की तीव्र महक पूर्ण रुप से दब सकती है? प्राय ही उच्च स्वर मे गरज रहे जे० के० का परुष कण्ठ-स्वर बेधडक मेरी खिडकी से सरकता मेरे कमरे मे चला आता, और फिर मानो की दबी सिसकिया। एक तो उस अनोखी बस्ती मे जोडो मे बने वे फ्लैट गढन और दर्शन मे एकदम स्यामी जुडवा थे। एक फ्लैट की धडकन जब कभी दूसरे की धडकन बन सकती थी और एक फ्लैट की छीक, खासी, निर्लज्ज डकार अनजाने-अनचाहे दूसरे फ्लैट मे जाकर कभी भी अपना अवाछित टेप बजा सकती थी।

इसीसे उस दिन से जब मानो मुझे दीखती तब मैं हसकर उसे छेड भी देती—"क्यो जी, सौत का प्रेत आज फिर आया था क्या ?"

वह भी हसने की चेष्टा करती, पर उसके सुन्दर होठ कापकर रह जाते। मैंने उसे एक बार बुरी तरह डाटा भी था। स्वय अपने ही मन मे एक व्यर्थ अन्धविश्वास का जाल बुनती, वह किसी फूहड मकडी की भाति, स्वय ही अपने जाल मे फसकर प्राण दे रही थी।

"कैसा आश्चर्य है मानो," मैंने उसे समझाने की चेष्टा भी की थी—"तुम पढी-लिखी होकर भी भूत-प्रेत और झाड-फूक की बातें करती हो।"

न जाने कब उसे उसकी महरी ने बता दिया था कि उसकी मरी सौत उसे दिन-रात सताती है, एक पल चैन से नही रहने देती, दिन-रात उनका पति उसे मारता है, इसीसे उसने किसी अघोरी नट को सौत का भूत भगाने को देहात से बुलाया है। मानो को फुसलाकर वह पचास रुपये भी ठग ले गई थी।

"कितनी मूर्ख हो तुम मानो," मैंने उसे झिडक दिया था।

"क्या करती," वह खिसियाए स्वर से कहने लगी थी—"बेचारी बहुत रो रही थी, सुना नट ही मरी सौत से पिण्ड छुडवा सकते हैं। कल उसे झाडने आएगा। दो मुर्गे, एक बोतल शराब, आठ अण्डे और तीस रुपये—यही फीस है उसकी। इसीसे तो मैंने दे दिए। चलो मेरी सौत नही उतरती, तो किसीकी तो उतरे!" वह हसने लगी।

"छि-छि मानो, तुम भी उसकी बातो मे आ गई। देख लेना, पचास रुपये वह खुद डकार जाएगी!" मैंने कहा।

'नही-नही, ऐसी बात नही है। मैं कल जाऊगी उसकी झाड-फूक देखने। तुम भी चलो ना, देखें तो सही, कैसे भागती है उसकी सौत।" और फिर कुछ उसका कुतूहल, कुछ स्वय मेरा, मुझे भी वही खीच ले गया। ताडी की भयानक दुर्गन्ध से बसाता वह औघड अवधूत पालथी मारकर बैठा था। पास ही सम्मिलित टागो के बन्धन मे बन्दी दो पुष्ट मुर्गे भय से बार-बार फडफडा रहे थे, एक ओर टूटे आठ अण्डो की जर्दी बिखरी पडी थी, दूसरी ओर मूज की झला-सी चारपाई पर मानो की महरी। हमे देखकर न वह उठी, न उसने अभ्यर्थना का ही आभास दिया। नट की नगी काली देह मिट्टी के तेल की हवा मे घुप-घुप कर जलती बत्ती और रह-रहकर कमरे मे तीव्र होती जा रही ताडी की दुर्गन्ध, एक रहस्यमय वातावरण की-सी सृष्टि कर रहे थे। नट ने एक बार हमे लाल-लाल आखो मे देखा, फिर एक चीख मारकर महरी के पास खडा हो गया। महरी का चेहरा उसे देखकर ही तमतमा उठा, आखे कपाल पर चढती-चढती सहसा स्थिर हो गई और वह एकाएक तनकर नट की ओर मुड गई।

"क्यो, जाएगी या नही, बोल ?" नट ने चीखकर पूछा।

"नही !" महरी का दृढ स्वर जैसे सात समुद्र पार से तैरता चला आ रहा था।

नट ने क्रोध से काप-कापकर फिर पूछा—"सोच ले · "

"सोच लिया," यह तो महरी नही जैसे किसी पेशेवर मदारी का जम्बूरा बोल रहा था।

सहसा नट ने उछलकर उसे बडी ही बेरहमी से पीटना शुरू कर दिया, मैं सहमकर उठ गई, पर मानो ने मेरा आचल खीचकर मुझे बिठा ही नही दिया, आखे तरेरकर मूक फटकार भी दे दी। वह स्वय फिर अचल-अडिग मुद्रा मे एकटक नट की हृदयहीन झाड-फूक देखने लगी। उसके चेहरे पर ऐसी तृप्ति झलक रही थी जैसे महरी के माध्यम से पिट रही सौत, महरी की नही स्वय उसकी हो।

"क्यो, और परेशान करेगी इसे, बोल ? जाएगी कि नही ?" लपककर उसने अब महरी का झोटा पकडकर ऐसे खींचा जैसे वेणी का जड से ही उन्मूलन कर छोडेगा। ऐसी भयानक मार खाकर भी दुबली-पतली महरी कैसे हस रही है, यह रहस्य आज तक नही सुलझा पाई। उफ ! कैसी लात, कैसे सशब्द थप्पड और किसी कद्दावर बाक्सर के-से घातक घूसे उस गरीब पर पड रहे थे, पर वह तो जैसे रुई-भरा निर्जीव गावतकिया बन गई थी। विकृत स्वर मे हस-हसकर वह कहने लगी—"और का, महारानी बनी हमारे भतार के साथ राज-पाट कर रही हैं। तनी पूछो इनसे, कनागत लगे हैं, कभी एक धोती-टिकुली दान करी हैं हमरे नाम पर ?" मैंने मानो का कन्धा पकडकर हिलाया—"चलो मानो घर चलें, न जाने कैसा लग रहा है।" पर

मानो तो जैसे स्वय किसी ट्रास की मीडियम वन गई थी। उसका चेहरा एकदम सफेद पड गया था, महरी की सौत क्या अप्रत्यक्ष रूप से उसे भी चेतावनी दे गई थी ?

“तव वोल, साडी-टिकुली लेकर इसे छोडेगी कि नही ?” नट ने एक घूसा मारकर उसे नीचे गिरा दिया और वह घूसा जैसे उसे न लगकर मुझे लगा। तिलमिलाकर मैं उठ गई । छि-छि, अव और यह गवारपना नही देख पा रही थी मैं। पर वहा मेरे उठने या जाने की चिन्ता ही किसे थी ?

“वोल जल्दी, साडी-टिकुली लेकर जाएगी या नही ?” नट ने इस वार चोटी पकडकर उसे एक गोल चक्कर-सा खिला दिया।

हु-हु-हु कर सौत ने उसे छोडने का अस्पष्ट आश्वासन दिया। इसपर नट चीख उठा—“ठीक है, अब मिरच की धूनी लेकर ही मानेगी तू ।” फिर वह हमारी ओर मुडकर वोला—“मेम साव, आप लोग वाहर चली जाए, इसे हम मिरचा की धूप देंगे ।”

मैं एकदम उठ गई, पर मानो वडी अनिच्छा से उठकर वाहर आई थी। उसे झाड-फूक ने सचमुच ही वुरी तरह झकझोर दिया था। वह भयत्रस्त स्वर मे फुसफुसाई—“मैंने भी तो कभी उसके नाम का कुछ दान नही किया, शायद इसीसे मेरे पीछे पडी है। आज ही जाकर सव सामान लाऊगी और इसे झाडने वुलाऊगी।”

‘नही,” मैंने कहा—“मैं तुम्हे यह सव कभी नही करने दूगी। तमाशा खडा करोगी क्या ? जे० के० ही कम है क्या, जो इस नट के लात-घूसे खाओगी ?”

उसने सकपकाकर मुझे देखा। तव क्या मुझे पता था कि वह हृदयहीन व्यक्ति कभी-कभी उसपर हाथ भी छोड वैठता है ?

हा, मुझे पता था, दोष मेरा नही, जैसा कि मैं पहले भी कह चुकी हू, हम दोनो के जुडवा फ्लैट की पारदर्शी दीवार का था ।

“तुमने मुझपर फिर हाथ चलाया ? मैं जानती हू, तुमपर किसकी दुष्ट आत्मा सवार है,” मानो का सिसकियो से कापता कण्ठस्वर अर्धरात्रि की स्तब्धता को चीरता, सीधे मेरे शयनकक्ष मे चला आया था । किन्तु दूसरे दिन, उस उत्फुल्ल चेहरे पर रात्रि-कलह की एक रेखा भी मुझे ढूढने पर नही मिली थी । सन्ध्या को, दोनो को एकसाथ घूमते देख, मैं दग रह गई थी । तब क्या दोनो किसी नाटक का रिहर्सल कर रहे थे ? कैसी विचित्र जोडी थी यह ! इसीसे, उस वैचित्र्य के चौखट मे, सहसा मढ गया, तीव्रनयना चाद का चमकता चेहरा मुझे बार-बार शकित करने लगा । यह ठीक था कि क्रोधी जे० के० के दुर्द्धर्ष व्यक्तित्व-दर्पण मे किसी भी सुन्दरी का मुखारविन्द कभी प्रतिविम्बित नही हो सकता था । पर चाद सुन्दरी होती, तो मुझे कोई चिन्ता न थी, उसकी अटी-सटी देह, केवल प्रेयसी की देह थी । उसका असवृत अचल, कही पत्ता न हिलने पर भी, किसी अदृश्य हवा के झोके मे स्वय ही उडता रहता । चलते-फिरते, उठते-बैठते, उन मदालस नयनो की दृष्टि प्रणयी पुरुषो को किसी मदनोत्सव के निमन्त्रण-पत्र बाटती चली जाती थी । वह सडक पर निकलती, तो स्त्रिया घृणा से आखें फेर लेती, पर राह चलते पुरुषो मे से शायद ही कोई ऐसा निकलता जो उसे एक बार मुडकर न देख लेता । यह सब मैं नित्य ही, न चाहने पर भी अपनी खिडकी से देख लेती थी । इसीसे मानो को मैंने एक बार फिर समझाया—“मानो, मैं मानती हू कि जे० के० पर तुम्हारा पूर्ण विश्वास है

पर मैंने इस छोकरी की एक-एक कुटिल चाल इसी खिडकी से देखी है।"

"ओह," मानो हसी—"क्यो जी, तुम क्या सोचती हो, उस घिनौनी सूरत पर कोई पढा-लिखा सम्भ्रान्त व्यक्ति रीझ भी सकता है!"

"पुरुष केवल चेहरे पर ही नही रीझता मानो। देखती नही, उस साचे मे ढली काली देह मे केवल नारीत्व है, और कुछ नही? चेहरे के सौन्दर्य से देह के सौन्दर्य का आमन्त्रण पुरुष के लिए कही अधिक घातक सिद्ध हो सकता है, समझी?"

पर वह समझने के मूड मे ही कहा थी? दूसरे ही दिन, मेरे पार्श्व के फ्लैट मे चाद की धौत चन्द्रिका छिटक गई। फिर तो नित्य ही मानो चाद-पुराण लेकर बैठ जाती—"भई गज़ब की गुणी लडकी है। देखने मे भले ही लोहा हो, गुणो मे तो खरा सोना है, चाहे किसी जौहरी की कसौटी पर कसवा लो। क्या बताऊ तुम्हें, मुझे तो बिस्तर से ही नही उठने देती। आते ही धोबी बन्द करा दिया, बोली—'मेम साब, आप थोडा अरारोट मगा दीजिए, धोबी से बढिया कलफ गी' और इस्तरी? कहती है, उसकी ननिहाल धोबियो के मुहल्ले मे थी, इसीसे बचपन मे ही इस्तरी करना सीख गई थी। क्या इस्तरी करती है छोकरी! एकदम धोबियो का मुह मारती है। और गाना? बस भई, अब खाने का स्वाद तो कहकर नही बताया जा सकता, कल तुम मेरे साथ खाना खाओ और तब बतलाना कि मेरा चाद असली है या नकली।"

मैंने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया, और जब दूसरे दिन खाना खाने पहुची, तब उसके फ्लैट का कायापलट देखकर दग रह

गई। फर्श ऐसा चमक रहा था कि मुह देख लो। बचपन मे मैंने राजा-महाराजाओ के दरबार-हाल के फर्श को अग्रेज रेजिडेंट और उनकी मेम साहब लोगो की अगवानी मे, बियर की खाली बोतलें घिस-घिसकर ऐसे ही चमकाए जाते देखा था, वैसा ही कुछ किया था क्या इसने ? पहले जब भी मानो के यहा गई थी, बेतरतीबी से फैली अव्यवस्था ही देखने को मिली थी—कही फटी पत्रिका, कही पुत्री के बिखराए कौमिक का स्तूप, कही उलटी पडी चप्पल और कही आलसी लापरवाह गृहस्वामिनी की ही भाति पसरी पालतू बिल्ली। पर आज तो उसी गृह-सज्जा को देखते ही गृहस्वामिनी के हाथ चूमने को मैं ललक उठी—‘किसके हाथ का चमत्कार है आज यह ! मानो, तुम्हारा या ” मैं कह भी नही पाई थी कि “चाद का !” कह उसने हसकर मुझे बीच ही मे टोक दिया। फिर मुझे हाथ पकडकर एक नीची मूज की रगीन खटोली पर बिठाकर बोली—“यह खटोली भी चाद आज अपने घर से उठा लाई। कहने लगी—वहा पडी-पडी सड रही है, आपके टेबल लैम्प से मेल खाएगी।”

“क्या, किसी इटीरियर डैकोरेशन का कोर्स किया है इसने ?” मैंने आश्चर्य से एक बार फिर पूरे कमरे को अपनी चकित दृष्टि से टटोला।

“भगवान जाने !” वह फिर हस-हसकर कहने लगी—“पर क्या बताऊ तुम्हे, लाखो मे एक है लडकी। ऐसा बढिया तेल ठोकती है कि आखे मुदने लगती हैं—लगता है सिर पर हाथ नही, दो बडी तितलिया उडी जा रही हैं।”

‘अरी कम्बख्त,” मैंने उसके कन्धे पकडकर झकझोर दिया—‘जे० के० की गजी चाद पर इन तितलियो को मत उडने देना,

समझी ?" मानो, ठठाकर हस पडी । जे० के० दौरे पर गया था, इसीसे उसकी हसी मे एकान्त अरण्य मे बह रहे निर्झर की-सी मिठास थी । इसी बीच, चाद अनन्नास-जूस के दो लम्बे हिमशीतल गिलास लेकर आ गई ।

"यह जूस भी चाद ने आज ताजे अनन्नास का बनाया है। इसका कहना है, बाजार के शर्बतो की नकली तुरसी गला खराब करती है । इसने किसी टामस साहब की मेम से सिरप, जूस, सौस, पिकल सब कुछ बनाना सीखा है—क्यो, है ना चाद ?"

चाद अपनी सजीली ग्रीवा को झटकती, लज्जा का अपूर्व अभिनय करती भीतर चली गई ।

"ओफ, तुम और तुम्हारी चाद ! अब शायद तुम कहोगी कि यह अनन्नास भी तुम्हारी चाद ने तुम्हारे किसी गमले मे उगाया था" मेरी बात सुनकर मानो जोर से हस पडी, फिर मेरा हाथ पकडकर बोली—"अच्छा सच-सच कहना, तुम्हे चाद मे कुछ फर्क लगा या नही ?" मैं क्या कह सकती थी भला ? जब से वह हमे जूस थमाकर गई, मैं यही तो सोच रही थी—यह क्या वही चाद थी ? न थी नित्य की नियमित विलसित चोलिका, न ग्रीवा पर उठकर सिमट गई उत्तरीय की यवनिका, न आखो मे वह बिजली, न चाल मे वह लटका । दहकते अगारो पर जैसे किसीने पानी डाल दिया था । गर्दन का यह झटका भी तो मेरा नित्य का परिचित वह झटका नही था, जिसे देखकर आकाश के नक्षत्र खिसक-खिसक पडते थे । नई तात की ऊची बधी साडी मे वह बगाल के किसी प्रगतिशील नाट्यमच पर अवतरित, सरल सथाल किशोरी का पटु अभिनय कर रही अभिनेत्री ही अधिक लग रही थी । ढीला जूडा,

जूडे पर लगे घुघरूदार गिलट के काटे और गले मे चादी की जजीर। न काले अधरो पर गूढ कुटिल हास्य की रेखा थी, न चचल चितवन मे शरसधान का सामान्य-सा भी आयोजन ।

"खाना लगा दू मेम साब !" उसने बडी नम्रता से पूछा ।

"हा-हा, लगा दे," मानो ने कहा—"जरा दिखा दे अपने हाथ का चमत्कार !"

सचमुच ही, उन काले-कलूटे हाथो के चमत्कार ने फिर मुझे चमत्कृत कर दिया। लगता था, किसी खाद्य-प्रतियोगिता मे सजे, विभिन्न प्रदेशो के रुचिकर व्यजनो का परिवेशन चतुर पारखियो की प्रतीक्षा कर रहा था। कही दक्षिणी इडली-डोसा थे और कही गुजरात के ढोकला और कश्मीरी कोफ्ते ।

"यह सब क्या चाद ने बनाया है ?" मैंने आश्चर्य से पूछा ।

"हा जी हा, और कौन खानसामा बैठा है यहा !" हसकर मानो ने मुझे प्लेट थमा दी—"तब ही तो हर घडी, हर पल तुम्हें धन्यवाद देती रहती हू । न तुम मुझे चाद-सी चतुर पाचिका रखने का सुझाव देती, न हमे यह सब चखने को मिलता—अब देखो न, अनुभव भी तो इसका विस्तृत है । ब्रिगेडियर कौल के यहा चार महीने रही, वही से ये कोफ्ते सीख आई । न लहसुन, न प्याज—बस हीग, और दही । जीभ पर धरो तो बताशा, कौन कहेगा बकरे का गोश्त है—लगता है पचतत्त्व प्राप्त कर कोई स्वादिष्ठ मुर्गा ही अपना प्रसाद थमा गया है !"

सचमुच ही गजब का रस था छोकरी के हाथ मे । आमिष ही नही, निरामिष व्यजनो मे भी उसने अमृत घोलकर रख दिया था ।

"ऐसी इडली तो मद्रास मे नही खाई चाद !" मैंने हसकर

कहा।

"खाओगी भी कैसे," चाद की मुग्धा स्वामिनी स्वय ही उसके क्रेडेनाटियल्स मुझे थमाने लगी—"हमारी चाद, चार महीने सुब्रह्मण्यम के यहा जो रही है, वही से इडली, डोसा, उपमा, साम्बर सब बनाना सीख आई है, फिर तीन महीने मि० नागर के यहा रही, इसीसे तो हमे आज ये अपूर्व ढोकला मिले है खाने को।"

पर मैं पूछना चाह रही थी, कि आखिर ऐसी गुणी पाचिका को कुछ ही महीनो की अवधि मे कार्यमुक्त क्यो कर दिया जाता था ? पर हसती चाद इसी बीच मिट्टी के दो सकोरो मे ठण्डी, केवडा-पगी फिरनी ले आई।

"यह बनाना किससे सीखा चाद ?" मैंने हसकर पूछा।

"जी, अपनी अम्मी से," वह आचल से मुह ढापकर फिर-से हस पडी।

ओह, मैं तो भूल ही गई थी कि वह यवन-दुहिता है, फिरनी तो वह अपनी अम्मी से सीख ही सकती थी। खाने के बाद वह किसी मुगल दरवार की शाही वादी की ही शिष्ट शालीनता के साथ, एक चादी की तश्तरी मे, वर्क मे लिपटी चार गिलौरिया ले आई। सुवासित पीक गुलगुलाती मैं घर लौटी तो सचमुच ही मानो कि सौभाग्य पर ईर्ष्या होने लगी। यहा रोज वही, एक सूखी और एक रसेदार सब्जी की नीरस डुबकी मे दिन गुजर रहे थे। उधर एक ही दीवार के पीछे, मानो कैसे-कैसे, अलभ्य व्यजनो का आनन्द ले रही थी। काश, मैंने ही रख लिया होता छोकरी को। धोबी का खर्चा वन्द, स्कूल का खाना पहुचाने मे सचिवालय के टगोदार चपरासी के नखरे सहना वन्द, झाडू-पोछा लगाने के रेट इधर अना-

नक ही मेहरियो ने बढा दिए थे । इसीसे वह सब भी खुद ही करना पडता था, और उसे निबटाने मे कभी शवासन और कभी मयूरासन की मुद्रा मे पूरी देह टिटेनस के रोगी की ही भाति ऐंठकर रह जाती थी। चाद को रख लिया होता, तो वह पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर सब बन सकती थी। एक यही भय तो रहता कि वह दुस्साहसी सिहिका, पुरुषमात्र के छायाग्रास को ग्रसकर उदरस्थ कर लेती है, पर ऐसी गुणी सेविका का यह अक्षम्य अवगुण भी शायद उसके असख्य गुणो के सम्मुख नगण्य ही लगता।

दूसरे दिन, पति के दफ्तर जाने के बाद नित्य के नियमानुसार मानो मुझसे मिलने आई।

“क्यो कैसी लगी हमारी नई मेड-इन-वेटिंग !” उसने हसकर पूछा ।

“सच, गजब की लडकी है भई, अब तो मैं पुरुषो को दोष नही देती ” पर यह तो बताना मानो, तुमने इसकी सजधज मे कौन-सी जादुई छडी फेर दी ?”

“मतलब ?” मानो ने हसकर पूछा ।

“अरे भई, मतलब यह कि ” मैं एक पल को स्वय ही घबरा गई ।

पर वह अचानक स्वय ही समझकर जोर से हस पडी ।

“ओह, समझी जानती हो,” वह फुसफुसाकर कहने लगी—“ऐसा कुछ भी नही पहनती अभागी, उसकी गढन ही ऐसी बेतुकी है । मैं भी यही समझती थी कि शायद वह सस्ते पैडेड ब्राज खरीद लाई होगी कही से । पहले तो समझ मे नही आया, कैसे उससे कहू, पर फिर एक दिन मौका देखकर मैंने उसे चौके के एकान्त मे ही घेर

लिया । 'देखो चाद,' मैंने कहा—'आज तक बात दूसरी थी, तुम अब हमारे यहा रहती हो, तुम्हे अपना ओढना-पहनना, खाना-पीना, उठना-बैठना भी हमारे ही घर के साचे मे ढालना होगा । मैं तो छुआछूत नही मानती, पर कभी जात-बिरादरीवाले आ गए तो तुम्हारा चूडीदार गरारा देखकर भडक जाएगे । मैं तुम्हे कल ही दो पेटीकोट-साडी-ब्लाउज ला दूगी—वही पहनना, अच्छा ?'

" 'जी मेम साब,' उसने ऐसी भोली अदा से कहा कि उसके जिस मिनी परिधान की मैं कडे शब्दो मे आलोचना करने आई थी, वे मुह ही मे घुलकर रह गए । शायद मैं कुछ कह भी नही पाती, पर अचानक मेरी दृष्टि उसके चेहरे से फिसलकर नीचे अटक गई । नही-नही, मुझे कुछ कहना ही चाहिए, सोचकर मैंने हिम्मत की—'देखो चाद,' मैंने फिर फुसला-फुसलाकर उससे स्पष्ट शब्दो मे कह ही दिया—'तुम जो यह सब पहनती हो ना, इसे भले घर की लडकिया नही पहनती ।'

" 'क्यो मेम साब ?' उसके सरल प्रश्न की निर्दोष खनक, मुझे चौंका गई । वह ऐसे गर्दन मोडकर मुझे देख रही थी जैसे सहसा चौंकाया गया निर्दोष शिशु मा का स्तन छोडकर निगोरो देखता है ।

" मैं एक पल को हकबका गई, पर फिर मुझे साफ-साफ कहना ही पडा ।

" ओह ! " वह हसी—"और जानती हो उसने क्या किया ?"

"क्या ?" मैंने पूछा ।

" एकदम कुरती उठाकर टीपलेस बनी मेरे सम्मुख खडी हो गई ।

"मैं तो कुछ भी ऐसा नही पहनती, मेम साव !' उसने कहा, पर वन्दी के चेहरे पर एक शिकन भी नही आई। लज्जा से माथा कट गया मेरा।"

"लोग हज़ारो रुपये खर्च कर विदेश जाते हैं 'ओ कैलकटा' देखने," मैंने व्यग्य मे हसकर कहा—"और तुमने वैठे-विठाए मुफ्त मे ही वह नाटक देख लिया।"

"तुम्हे तो मज़ाक ही सूझता है।" मानो इस वार झुझला उठी—"पर तुम्ही वताओ अव, वह जो एन० सी० सी० के जवानो की भाति सीना तानकर चलती है, उसमे दोष उसका है या स्वय विधाता का ? उनकी इस वेजोड देह का सौन्दर्य निश्चय ही उसे एक अनोखा माडल वना सकता है। विदेश जाने पर शी कैन अर्न डॉलर्स।"

"तव उसे यही माडल क्यो नही वना देती ?" मैंने हसकर कहा—"आजकल तो सम्भ्रान्त गृहिणियो मे 'वोटीक' खोलना एक फैशन-सा वन गया है। हमारा देश क्या अव इस वात मे विदेश से कुछ कम है ? काली माडल को यहा भी मान्यता मिलने लगी है मानो। आए दिन तो हमारी फैशन-पत्रिकाओ मे ज़नाने कपडो मे कवायद कर रहे जनखे-से छोकरे और चुस्त मर्दानी तमनिया कमीज़ो मे काली-कलूटी हाथ-पैर फैलाए भूतनी-सी माडल तो छपती ही रहती है। पर एक ही वात है

"क्या ?" मानो ने कान खडे कर लिए। लग रहा था, उसे मेरा मौलिक सुझाव सचमुच ही प्रभावित कर गया है।

"यही कि चाद किसी पत्रिका मे छपी और उसका सम्पादक वही यदि दुर्भाग्य से पुरुष हुआ तो वस फिर उसका राम ही रखवाला रहेगा !" मैं हसने लगी।

"ओह, तुम तो बेचारी के पीछे हाथ धोकर ही पड़ गई हो! ऐसी नही है चाद, मुझे बेबी की देखादेखी अब खुद भी मम्मी कहने लगी है। अब तुम्ही बताओ, उस रिश्ते से जे० के० भी उसका पापा बना या नही ?"

मैं एक लम्बी सास खीचकर चुप रह गई, कैसे समझाती उसे कि अपने सगे पापा को छोड, ससार का कोई भी पुरुष उसका पापा कभी नही बन सकता।

इसके बाद ही, अचानक ठीक तीसरे दिन घबराई मानो ने मेरा द्वार खटखटाया।

"क्या बात है मानो ?" मेरे पूछते ही वह रोने लगी। मेरा कलेजा डूब गया—हो न हो, वही मनहूस चाद अब अपनी इस उदार सरल गृहस्वामिनी को ही ले डूबी होगी।

पर मेरे अनुमान का ठेला इस बार गलत निशाने पर लगा ।

“डैडी की तबीयत बहुत खराब है,” वह आखें पोछकर कहने लगी—“थवोम्सिस के दौरे मे अचेत पडे हैं वह भी एकदम अकेले, मैं आज ही जा रही हू ।”

“बेबी को मेरे पास छोड जाओ, जे० के० का खाना भी यही से चला जाएगा,” मैंने कहा ।

“नही-नही, चाद तो यही है, वह सब सम्हाल लेगी । पहले मैंने भी यही सोचा था कि बेबी को यही छोड जाऊगी, पर तुम तो जानती हो, डैडी की जान ही इसमे बसी है । कही होश आते ही इसीके लिए छटपटा उठे, तब फिर कौन इसे यहा से लाएगा ?”

“और जे० के० ?” मैंने पूछा ।

“उनका जाना असम्भव है, देख तो रही हो—नई मिनिस्ट्री के भी प्राण आजकल कठागत हैं, ऐसे मे वह जा ही कैसे सकता है । पर मुझे वैसे भी उसके खाने-पीने की चिन्ता नही । कल से नवरात्र

हैं, फल-दूध छोडकर वह कुछ लेता नही। गैस है ही, दूध उबाल लेगा, झाड़ू पोछा, कपडे धोना, हाट-बाजार सब बाई करती रहेगी।"

मैं जैसे आकाश से गिरी! कहती क्या है अभागी? सच क्या यह सचमुच ही सिंहनी की माद मे, अपने हाथो अपने निरीह पति को ढकेल रही थी?

"मैं चलू, दिल्ली भी प्लेन मे जा रही हू। वहा से दूसरा प्लेन लूगी," वह उतावली मे सीढिया फादती चली गई।

उसके पिता अफ्रीका-प्रवासी, लक्षाधिपति गुजराती उद्योगपतियो के प्रमुख वकील थे। दूसरे दिन, पाच बजे बाद मुझे चाबी देने आई।

"डेरी से दूध ला उबालकर रख दिया है मेम साब, फल भी धोकर मेज़ पर लगा दिए हैं। साहबजी बडी देर से दफ्तर से लौटते हैं, इसीसे मम्मी कह गई थी, घर बन्द कर चाबी आपको दे जाया करूगी।"

मुझे चाबी देकर वह गई तो मन हल्का सा हो गया। चलो पाप कटा, अब चाहे कही जाकर अपना मुह काला करे। हमारी बस्ती के किसी विश्वामित्र की मेनका तो नही बन पाएगी।

जब जे० के० चाबी लेने आए, तब मैंने कहा—"आपका उपवास है, खुद चाय बनाकर पिएगे—पानी उबला तैयार है, आप बैठें, मैं एक कप चाय बना लाती हू।'

"नही-नही,"—घबराकर महासकोची जे० के० ने चाबी ले ली—"चाय तो मैं वैसे ही नही पीता, फल खाकर दूध पी लूगा।"

दूसरे दिन, चाद फिर चावी देने आई तो मैंने कहा—"अरी, तेरे साहव रोज फल खाते हैं, आलू-वालू क्यो नही उवाल देती ?"

"आजकल साहवजी के रोज़े है, मेरे हाथ की वनी सब्जी भी नही खाते," उसने कहा, और 'रोज़े' सुनकर मुझे हसी आ गई।

'चलो' मैंने मन ही मन कहा—"इस ससार मे कम से कम एक पुरुष को तो इसके स्पर्श से परहेज़ है।' पर उसी क्षण, मुझे वर्षों पूर्व पहाडी दूरन्त पगडडी मे, यवन प्रणयी के सग छिपी उस भोली हिन्दू रूपाजीवा का अल्हड अनुरोध स्मरण हो आया। मैं डाडी मे जा रही थी, तमसावृता शीतार्त रात्रि मे, न जाने किस देवदारु के नीचे ठिठुरती, अपने विजातीय प्रेमी से वह कह रही थी—'और जो करो मुनलिदाज्यू, मेरा मुह मत चूमना, आज मेरी एकादशी है।" कही ऐसे ही प्रणयभीने अनुरोध ने सयमी जे० के० को भी वाध लिया तव ?"

चौथे ही दिन मैंने देखा, चाद अपनी साडी की अस्वाभाविक केंचुली उतार, एक वार फिर अपने घुमेरदार गरारे मे उतर आई है। होठों पर वही कुटिल स्मित और सस्ती लालिमा, और ओर-छोर सुवासित करती, ओटो दिल्वहार की वैसी ही मादक सुगन्ध मेरी खिटकी के नीचे लगी पत्थर की वेंच पर वैठी वह नि शक वीडी फूक रही थी। मैं चुपचाप पीछे खिसक गई। एक घटा भी नही गुज़रा था कि, किसीने घटी वजाई। द्वार खोला तो हाथ मे चावी लिए चाद खडी थी। उसका शृगार आज विशेष रूप से मारात्मक लग रहा था। दोनो चोटियो पर सर्चलाइट-से चमकते दो सूरजमुखी के फूलो की पीताभ छाया उस कराल वदना के चेहरे को और भी काला वना रही थी, जैसे आवनूसी चौडी तश्तरी को, किसीने

वैक्सपाल से चमका दिया हो। सस्ती सुगन्ध से मेरा माथा ठनक गया, लग रहा था बगलौरी अगरबत्ती का पूरा बडल ही सुलगाकर किसीने मेरी नाक के नीचे रख दिया है।

"आज इतनी जल्दी डेरी से दूध कैसे मिल गया?" मैंने कुछ रुखाई से ही पूछा।

"जी, कल ही दूध की दो बोतल लेकर फिरिज मे रख दी थी। हमारे मौसिया आए है, पिक्चर देखने ले जाएगे, साहबजी से कह दिया था।" मैं चाबी लेकर द्वार बन्द करने ही जा रही थी कि मेरी दृष्टि उसके प्रतीक्षारत बाके मौसिया पर पड गई। जिस मुग्ध दृष्टि से उसका वह रिक्शाचालक मौसिया सीढिया उतरती उस श्याम-सुन्दरी को देख रहा था, उसमे और जो कुछ भी हो, बुजुर्ग मौसिया का स्नेह कदापि नही झलक रहा था। फिर तो एक-एक कर उसके नित्य नवीन मौसिया, फूफा और जीजा उसे बारी बारी से 'पिक्चर' ले जाने लगे। उधर मानो की कोई खबर ही नही थी। एक एक कर तीन महीने बीत गए और वह नही लौटी। एक दिन उसकी लम्बी चिट्ठी आई तो मैं खिल उठी। वह अभी नही लौट पाएगी, ऐसा ही उसने लिखा था। पिता की अवस्था अब चिन्ताजनक नही थी, किन्तु उस झटके ने उन्हे अपग बनाकर छोड दिया था। ऐसे रुग्ण असहाय पिता को विदेश मे छोड वह आ भी कैसे सकती थी! स्वदेश आने को पिता तैयार नही थे। "उनकी देखभाल समुचित व्यवस्था करके ही मैं आ पाऊगी। फिर ऐसी चिन्ता भी नही है," उसने लिखा था—"उनके खाने-पीने की व्यवस्था का तो प्रश्न ही नही उठता, तुमने ऐसी 'हीरे का टुकडा' नौकरानी दी है, तुम्हारा एहसान जीवन-भर नही भूलूगी। वह न होती तो कभी का बैर

फैलाकर मायके मे पसर पाती ? वह तो मेरी गृहस्थी मुझसे भी अच्छी चला रही होगी—क्यो है ना ?”

ठीक ही लिखा था उस मूर्खा ने। चाद सचमुच ही उसकी गृहस्थी को, उससे भी सुचारु रूप से सचालित कर रही थी। जे० के० के पिचके प्रौढ कपोलो पर, मास की परतें चढ गई थी। दफ्तर जाने लगते तो उनकी फाइल लेकर चाद किसी अनुभवी ऐंग्लो-इण्डियन सेक्रेटरी की भाति कार मे लगा जाती, कभी भागकर मेज़ पर छूट गया कलम साहब को थमाती, कभी चश्मा। पहले मानो कई वार मेरे पास आकर विसूरती थी कि जे० के० दिन-डूवे दफ्तर से लौटता है, फिर क्या इष्टमित्रो के वीच उठने-वैठने का समय रह जाता है ? मैं उसे लाख समझाती—‘मानो, सचिव-अनुसचिव की पत्नियो को तो सदा ही ‘प्रोषितपतिका’ का जीवन जीना पडता है,’ पर उनकी वही फटीचर गवारू दलील मुझे झुझला देती—‘तुम नही जानती, सौत का प्रेत ही उसे दफ्तर मे रोके रहता है।’ किन्तु अव किस सौत का प्रेत उसे चार ही बजे दफ्तर से घर खीच लाता था ? यही नही, मुझे तो इधर जे० के० की खल्वाट चिकनी चाद मे ठूठ वृक्ष पर वसन्त-गमन मे उग आए नये-नये कोपलो के-से नवीन शगुच्छ की सन्दिग्धपूर्ण कालिमा भी दिखने लगी थी। कही यह मायाविनी चाद की चम्पी का चमत्कार तो नही था ? पर नवरात्र के उस स्निग्ध पावन ब्राह्म मुहूर्त्त मे, उस शान्त कठस्वर की अनेक आवृत्तिया मुझे फिर आश्वस्त कर उठती। मेरी उसी पारदर्शी दीवार को भेदता जे० के० का मधुर कठस्वर, मेरे कमरे मे भी जैसे हवन की पावन धूम्ररेखा विखर देता—

ॐ शुभ्रवर्ण शिवारटायै नम , ॐ मुडमाला विभूषणायै नम ॐ

कल्प वल्ली वनस्थितायं नम ॐ स्मशानमध्य गायैनम

जिस गृह मे, इस पवित्र अष्टोत्तर का नित्य जाप होता हो, वहा भला कौन-सी डाकिनी जीवित रह सकती थी ? मेरी तो आज भी यह दृढ धारणा है कि जे० के० का शतमुखी विनिपात निश्चय ही उस गृह की चहारदीवारी से बाहर ही हुआ होगा। उसी दिन महरी ने आकर मेरे सन्देह की पुष्टि कर दी।

“बहूजी !” मुझे एकान्त कोने मे खीचकर वह फुसफुसाई—“आप बहूजी को लिख दे, जल्दी चली आए।”

“क्यो ?” मैंने सब कुछ समझकर भी अनजान बनकर पूछा।

“अब का कही बहूजी—ऊ मुहझौंसी पटरानी बनी बैठी है !” वह और भी धीमे स्वर मे फुसफुसाई।

“क्या कहती हो महरी !” मैंने अविश्वास से कहा, पर शायद मेरा स्त्रियोचित कुतूहल मेरी आखो मे झलक उसे और भी प्रगल्भा बना गया।

“हा बहूजी, राम कसम ! आज हम पानी भरने एकदम चौके मे चल गई, साहब खाना खा रहे थे और पटरानी मेज पर बैठी, हस-हसकर बतिया रही थी।”

“कौन ?” अब मेरा फूहड प्रश्न अपढ महरी को खिझा गया।

“अउर कौन, उही चदा सहजादी !” उसने होठ बिचका-बिचकाकर कहा।

मुझे काटो तो खून नही, तब क्या बात सचमुच ही यहा तक बढ गई थी ?

“आप आज्जै चिट्ठी छोड दे बहूजी, ई वेश्या तो ना पता अउर कितना घर बरबाद करी है ”

यह महरी क्या अकेली, हम दोनो की महरी थी । आठ ग्रहो की यह सम्मिलित चेरी घर-घर का जूठन साफ भी करती थी और कभी वही जूठन उसी तत्परता से इधर-उधर बिखेर भी देती थी, इसीसे चदा शहजादी की चोरी और सीनाजोरी की खबर निश्चय ही उन आठो परिवारो की चूरन-चटनी बन जाएगी । फिर, मूर्ख जे० के० को क्या अपनी ऊची नौकरी का भी भय नही रहा होगा ? नया मन्त्रिमण्डल, एक से एक रौबीले लाल दहकते अगारे-से ऊचे अफसरो को अपने न्याय-चिमटे से पकड-पकडकर आए दिन पानी मे बुझा, दायें-बायें फेक रहा था । किसी दुश्मन ने चुगली खा दी तो बच्चू को मिनटो मे नौकरी से हाथ धोने पडेंगे । नही, अब देरी करना ठीक नही था । एक सखी के नाते, एक प्रतिवेशिनी के नाते और सबसे बढकर एक नारी के नाते, मेरा यह कर्तव्य था कि मैं मानो को अविलम्ब दुर्घटना-स्थल पर पहुचा दू, चाहे उसका दाम्पत्य जीवन फिर चिता ही क्यो न चढे, मरने से पहले मुह तो देख लेगी अपने सौभाग्य का । मैंने अपनी कहानियो मे आज तक ऐसे प्रसगो की न जाने कितनी बार सहज सृष्टि की है । पति का विश्वासघात मेरी लेखनी के लिए अछूता विषय नही है किन्तु मानो को पत्र लिखने बैठी तो पहली बार, मुझे ऐसा लगा कि मेरी लेखनी का शैथिल्य मुझे भी निष्प्राण कर उठा है । मैं हाथ की कलम को तोड-मरोड ही रही थी कि चाद आकर खडी हो गई ।

"क्या बात है, आज भी तुम्हारा कोई मौसिया 'पिक्चर' दिखाने आया है क्या ?" मैंने व्यग्य से हसकर पूछा । जी मे आ रहा था कि एक झापड मारकर बल्लिया का मुड उत्तर से दक्षिण दिशा को मोड दू । देहया—सस्ती औरत !"

कल्प वल्ली वनस्यितायं नम ॐ स्मशानमध्य जायैनम

जिस गृह मे, इस पवित्र अष्टोत्तर का नित्य जाप होता हो, वहा भला कौन-सी डाकिनी जीवित रह सकती थी ? मेरी तो आज भी यह दृढ धारणा है कि जे० के० का शतमुखी विनिपात निश्चय ही उस गृह की चहारदीवारी से बाहर ही हुआ होगा। उसी दिन महरी ने आकर मेरे सन्देह की पुष्टि कर दी।

"बहूजी !" मुझे एकान्त कोने मे खीचकर वह फुसफुसाई—"आप बहूजी को लिख दे, जल्दी चली आए।"

"क्यो ?" मैंने सब कुछ समझकर भी अनजान बनकर पूछा।

"अब का कही बहूजी—ऊ मुहझौंसी पटरानी बनी बैठी है !" वह और भी धीमे स्वर मे फुसफुसाई।

"क्या कहती हो महरी !" मैंने अविश्वास से कहा, पर शायद मेरा स्त्रियोचित कुतूहल मेरी आखो मे झलक उसे और भी प्रगल्भा बना गया।

"हा बहूजी, राम कसम ! आज हम पानी भरने एकदम चौके मे चल गई, साहब खाना खा रहे थे और पटरानी मेज पर बैठी, हस-हसकर बतिया रही थी।"

"कौन ?" अब मेरा फूहड प्रश्न अपढ महरी को झिझोड गया।

"अउर कौन, उही चदा सहजादी !" उसने होठ बिचका-बिचकाकर कहा।

मुझे काटो तो खून नही, तब क्या बात सचमुच ही यहा तक बढ गई थी ?

"आप आज्जै चिट्ठी छोड दें बहूजी, ई वेह्या तो का पता अउर कितना घर बरबाद करी है "

यह महरी क्या अकेली, हम दोनो की महरी थी। आठ ग्रहो की यह सम्मिलित चेरी घर-घर का जूठन साफ भी करती थी और कभी वही जूठन उसी तत्परता से इधर-उधर बिखेर भी देती थी, इसीसे चदा शहजादी की चोरी और सीनाजोरी की खबर निश्चय ही उन आठो परिवारो की चूरन-चटनी बन जाएगी। फिर, मूर्ख जे० के० को क्या अपनी ऊची नौकरी का भी भय नही रहा होगा? नया मन्त्रिमण्डल, एक से एक रौबीले लाल दहकते अगारे-से ऊचे अफसरो को अपने न्याय-चिमटे से पकड-पकडकर आए दिन पानी मे बुझा, दायें-बायें फेंक रहा था। किसी दुश्मन ने चुगली खा दी तो बच्चू को मिनटो मे नौकरी से हाथ धोने पडेंगे। नही, अब देरी करना ठीक नही था। एक सखी के नाते, एक प्रतिवेशिनी के नाते और सबसे बढकर एक नारी के नाते, मेरा यह कर्तव्य था कि मैं मानो को अविलम्ब दुर्घटना-स्थल पर पहुचा दू, चाहे उसका दाम्पत्य जीवन फिर चिता ही क्यो न चढे, मरने से पहले मुह तो देख लेगी अपने सौभाग्य का। मैंने अपनी कहानियो मे आज तक ऐसे प्रसगो की न जाने कितनी बार सहज सृष्टि की है। पति का विश्वासघात मेरी लेखनी के लिए अछूता विषय नही है किन्तु मानो को पत्र लिखने बैठी तो पहली बार, मुझे ऐसा लगा कि मेरी लेखनी का शैथिल्य मुझे भी निष्प्राण कर उठा है। मैं हाथ की कलम को तोड-मरोड ही रही थी कि चाद आकर खडी हो गई।

“क्या बात है, आज भी तुम्हारा कोई मौसिया ‘पिच्चर’ दिखाने आया है क्या?” मैंने व्यग्य से हसकर पूछा। जी मे आ रहा था कि एक झापड मारकर कलिया का मुड उत्तर से दक्षिण दिशा को मोड दू। बेहया—सस्ती औरत।”

"जी नही, मेम साव शाम को आ रही हैं और अभी-अभी घर से खवर आई है कि हमारी भौजाई को दस्त हो रहे हैं, फौरन अम्मा को लेकर देहात चली आओ ।"

उसकी विपन्न मुद्रा देखकर शायद मैं प्रभावित भी हो जाती, पर मैं जानती थी कि अपनी विधवा दुराचारिणी जननी की वह एकमात्र सन्तान है । तव यह भाई ससुरा अचानक कहा से जन्मते ही व्याह कर वैठा ।

"क्या तुम्हारी सगी भौजाई है ?" मैंने कठोर स्वर मे पूछा ।

'जी, एकदम सगी," उसने कहा । मैं समझ गई, उस काल्पनिक भौजाई का हैजा भी परिस्थितिवश गढी गई, कलूटी के कलुषित मस्तिष्क की खोखली उडान-भर थी ।

"आप चावी रख लें, तवीयत ठीक होते ही हम लौट आएगी ।" वह मुझे चावी थमाकर एक प्रकार से दौडती ही चली गई ।

मैं जानती थी, वह कभी नही लौटेगी । इधर जे० के० भी तो वौरा गया था । वदनाम मा-वेटी की इस जोडी के लिए उसने अपना गैस्टरूम ही खोल दिया था, लाख चिकें डाले, ऐसी वात कही छिपाए छिपती है ? चाद के जाते ही जे० के० ने मा-वेटी के अस्थायी आवास से उनका रहा-सहा सामान भी उठवाकर वडे ही कौशल से वाहर कर दिया । किसी जन्मजात हत्यारे की भाति फिर उसने रक्त के एक एक छीटे को ही रगडकर मिटाया, जल्दी-जल्दी मे छूट गई एक-आध चूडीदार चुन्नी को भी जला दिया । जव यह होली जल रही थी, तव ही सी० आई० डी० को भी मात देती महरी वहा पहुचकर यह खवर दे गई थी । मैंने मौका देखकर महरी की मुट्ठी गर्म कर दी । जैसे भी हो अपनी सखी के इस दुर्भाग्य-प्रकाश को प्रेस मे जाने

से पूर्व ही नष्ट करना मेरा कर्तव्य था ।

"तुम यह सब किसीसे मत कहना महरी ।" मैंने कहा, किन्तु स्त्री होकर मैं क्या किसी दूसरी स्त्री से किए गए इस अनुरोध की व्यर्थता नही समझती थी ? ससार की कौन-सी स्त्री भला इस कठिन अनुरोध को अन्त तक निभा सकती है ? अपने आठो बच्चो के साथ उनके अकर्मण्य पिता की भी कसमे खाती, महरी दस का नोट लेकर चली गई—प्राण रहते, वह यह सब किसीसे नही कहेगी ।

मानो आते ही भागकर मुझसे मिलने चली आई थी—"क्यो कैसी लग रही हू मैं, मोटी होकर लौटी हू ना मायके से ?" वह हसी, पर मैं नही हस सकी । वह क्या जान पाएगी कि जिस प्राणो से प्रिय अगूठी को वह यहा छोड गई थी, उसकी अनुपस्थिति में उसके हीरा नगीने को ही किसी वचक ने बदल दिया है ? वह सचमुच ही मोटी होकर लौटी थी, चेहरे का पीलापन चला गया था । इतने दिनो पश्चात् पति को देखने का उल्लास सुन्दर चेहरे पर सहस्र किरणें छोड रहा था ।

"पर देखो ना, हमारी चाद तो हमारे आते ही देहात चल दी—सुना उसकी भाभी को हैजा हो गया है, मुझे तो डर है कही उसे भी कुछ न हो जाए ।"

'भगवान करे, उसे देहात पहुचते ही महामारी लील जाए !' मैंने मन ही मन कहा । उधर जे० के० ने अधैर्य से हाक लगाई—"मानो मानो !"

'देखा, कैसे बौराए जा रहे है, लाज-शरम कुछ नही है इन्हे," उसने कहा और व्रीडा का अबीर पूरे चेहरे पर ऐसे छलक गया, जैसे अभी-अभी डोले से उतरी चौथ की दुल्हन हो । वह चली गई,

पर कहते हैं कि खून एक दिन स्वय बोल उठता है। हत्यारे ने हत्या का एक-एक निशान तो मिटा दिया, पर फिर चूक ही गया। ठीक बारह बजे रात को किसीने मेरा द्वार खटखटाया। मैंने पूछा—"कौन ?"

"मैं हू मानो !" उसने क्षीण स्वर मे कहा। मैंने द्वार खोला तो उसे देखती ही रह गई। रूखे बाल, उतरा चेहरा और फूली-फूली आखें।

"अरे तबीयत ठीक नही है क्या ? आओ-आओ भीतर " मैंने कहा।

"नही " वह फुसफुसाई, जैसे नीद मे चल रही सौम्नेबुलिस्ट हो—" मैं जा रही हू, बाहर रिक्शा खडा है "

"क्या ?" मैंने अविश्वास से पूछा—"कहा जा रही हो ?"

"यह देखो।" उसने गिलट के घुघरू जडे कई काटे मेरे पैरो के पास ऐसे फेंक दिए जैसे हाथ मे कुलबुला रहे बिच्छू हो। "मुझे ये जे० के० के तकिये के नीचे मिले। ये न भी मिलते तब भी मैं समझ गई थी। इतने दिनो बाद मैं लौटी और वह पीठ फेरकर सो गया। ठीक जैसे भरपेट शिशु सोता है। मैं तकिया खिसकाने लगी तो ये काटे " उसका कण्ठ एक पल को वाष्पस्तम्भित हुआ, पर फिर वह आवेगहीन स्वर मे कहने लगी—"वह हमेशा जूडे के काटे खोलकर सिरहाने रखकर सोती थी, कई बार मेरे कमरे मे भी तो सोई थी, कहती थी, 'काटे गडते हैं ममी, जब तक खोलकर तकिये तले न धर लू नीद नही आती ' " आसु की दो बडी-बडी बूदें उसके कपोलो पर ढुलक गईं।

"हो सकता है, जे० के० को ब्लैकमेल करने को जान बूझकर ही

छोड गई हो। उस हरामजादी को मैं खूब जानती हू " मैंने अपनी दुर्बल दलील को कण्ठस्वर कठोर बनाकर पुष्ट करने की चेष्टा की—"आजकल तो यही सब हो रहा है। अर्थी मे चढने को तैयार बूढे मत्रियो तक की निर्मम चरित्र-हत्या की जा रही है।" मैं फिर अपने नवीन तर्क से स्वय ही उल्लसित होती हुई बडे उत्साह से उसे समझाने लगी।

"नही।" कडककर मानो ने कहा—"किसीने उसके चरित्र की निर्मम हत्या नही की। उसका चरित्र, अपनी कुदरती मौत से मरा है।'

"तुमने उससे कुछ पूछा नही ?" मैंने कहा।

"किससे, जे० के० से ?" वह हसी, उस अधेरी रात मे सतर खडी उस उज्ज्वलवर्णी युवती का चेहरा कितना करुण, कितना सुन्दर लग रहा था, कैसे लिखू ? न ललाट पर बिन्दी थी, न हाथो मे चूडिया, सफेद साडी से मेल खा रहा सफेद चेहरा! लगता था, अपने ही हाथो से अपना सुहाग उतार कोई सद्य वैधव्यदग्ध पाषाण-हृदया विधवा ही मेरे सम्मुख खडी है। वह कहने लगी—"मैंने जगाकर पूछा—'जे० के०, ये चाद के काटे तुम्हारे तकिये के नीचे कैसे आ गए ?' उत्तर उसने नही उसके चेहरे ने उसी क्षण दे दिया—'मैं नही जानता, मै नही जानता ' वह बुरी तरह हकलाने लगा। मुझे उसपर तरस भी आ गया, लगता था अभी-अभी रो पडेगा। जिस कठोर पति की कडक सुनकर मैं थर-थर कापती थी, आज उसे ही मेरी कडक थर-थर कपा रही थी। 'पता नही कौन छोड गया इन्हे,' वह बिस्तरे पर ही बैठकर नमाज-सी पढता स्वय बडबडाने लगा—'मै नही जानता मै नही जानता ' पर मैं जान गई थी कि उन

काटो को वहा कौन छोड गई थी। उसने क्या काटे ही छोडे थे ? वह तो अपने सस्ते इत्र की खुशबू जे० के० के तकिये, चादर, हर कमीज, हर रूमाल की बखिया मे गूथ-गूथकर छोड गई थी। अच्छा हुआ, बेबी को मैं वही छोड आई, अच्छा चलू बहन ”

“इतनी रात को तुम अकेली स्टेशन कैसे जाओगी ?” मैंने घबराकर पूछा।

“चली जाऊगी, अब मुझे जीवन-भर अकेले ही तो चलना है, यह क्यो भूल जाती हो ?” उसकी करुण हसी मेरा कलेजा बींध गई। ही तो उसके इस दुर्भाग्य के लिए दायी थी।

“जहा भी रहूगी, हमारी मैत्री की स्मृतिया, मेरे जीवन की सबसे सुखद स्मृतिया रहेगी,” उसने चलते-चलते मेरे दोनो हाथ अपनी मुट्ठी मे बाध लिए।

कण्ठ का गह्वर घुटककर मैंने उसे भीतर खीचने की व्यर्थ चेष्टा की।

“आज रात को सोच लो मानो, जीवन-भर का रिश्ता ऐसे नही तोडा जाता ”

“मैंने नही तोडा बहन, वह तो विधाता ने तोड दिया है। मुझे मत रोको। गाडी तो सुबह पाच बजे जाती है, पर तीस फ्लैटो की आखें सुबह मुझे घूरें, चीरें, फाडें, यह साहस नही है मुझमे वह तो बेबी डैडी के पास रह गई, वह होती तो पूरी बस्ती मे खबर फैला आती कि हम आ गए। सिवा तुम्हारे और शायद किसीने भी न मुझे आते देखा न जाते !”

मैं उसे रोक नही पाई। सचमुच ही शायद उसे किसीने नहीं देखा था, क्योकि कही भी उसके आगमन और मायके प्रत्यावर्तन की

चर्चा नही हुई । उसके जाने के ठीक सातवें दिन चाद अवश्य लौट आई । मैं एक दिन उठी तो देखा सिहिका अपने प्रिय गढटीले पर जमी है । वही नीलवर्णी गरारा और चमकता दुपट्टा । जी मे आया, उस ताकुचा, निर्लज्ज कलूटी को धक्का दे नीचे गिरा, पच्च से मह मे धक दू । मुझे देखकर भी उसने न नित्य की भाति हाथ जोडे, न हसी । पहले आइसक्रीमवाले को रोककर चार वाल्टिया खरीदी, तीन के दाम देने लगी तो उसने दाम और मागे । बडी अदा से गर्दन झटककर वह बोली—'शाम को घर पर आकर दाम ले लेना—समझे ?" उस उदार आश्वासन से काने की बुझी आख भी जैसे दप्-से जल उठी—"ह ह, पूरी गाडी तुम्हारी है भवानी !" वह गाडी ठेलता चला गया तो देखते ही देखते उसने एक साइकिल-सवार को अपने कटाक्ष के काटे से खीचकर धरा पर पटक दिया । जल बिन मीन-सा तडपता वह मोटा शिकार भी सन्ध्या को घर आने का मीठा निमन्त्रण लेकर गद्गद होकर चला गया, फिर आया पठान-सा ऊचा हमारा पूर्व-परिचित रिक्शाचालक, मैंने अतीत के उस स्नेही मौसिया को पहचानने मे भूल नही की ।

"चलोगी नही ?" उसने पूछा—"टैम हो रहा है "

'नही, आज हम नही जाएगे, दिल उदास है," एक चोटी को पीछे फेर वह चादी का गुच्छा हवा मे उछालने लगी । किसी प्राचीन मन्दिर की भित्तिचित्राकित कन्दुक क्रीडारता सुरसुन्दरी की ही भाति वह सहसा बकिम मुद्रा मे खडी हो गई ।

'कैसा दिल उदास है चोट्टी का !' मैं मन ही मन दात पीसकर बुदबुदाई—'क्या उदार स्वामिनी के निष्कासन से ही दिल उदास था टावा !'

"वाह, हम जो टेसन की सवारी छोडकर आए हैं आपकी खातिर !"

'अच्छा चलो !" प्रणयी के अनूठे त्याग ने शायद उसकी उदासी का मेघखण्ड उडा दिया। उसने दोनो हाथो से गरारा ऐसे उठाया जैसे विदेशी चलचित्र की तारिका अपना भारी गाउन उठाकर मखमली फर्श पर चल रही हो। वह मुस्कराकर रिक्शा मे बैठी तो चालक ने एक फर्शी लगाकर पूछा—"कहा चलू सरकार ?"

पता नही, उसने क्या कहा, पर अपना सस्ता चश्मा ठीक कर खर्र-से पैडल मारता चालक हवा मे तैरने लगा।

कभी सोचती थी क्या सोचकर इसके मा-बाप ने इसका नाम धरा होगा 'चाद'। पर अब सोचती हू, इससे बढिया नाम इसका और हो ही नही सकता था। गगन के चन्द्र की धरा पर चरण रखते ही तो मानव अपना शारीरिक सन्तुलन खोकर शून्य अन्तरिक्ष मे हाथ-पैर छोडकर तैरने लगता है। और धरा के इस चन्द्र के सम्मुख आते ही मानव उसी विवशता से अपना सन्तुलन खोकर मूर्ख बना शून्य अन्तरिक्ष मे बौराने लगता है !

◇ ◇ ◇

"वाह, हम जो टेसन की सवारी छोडकर आए है आपकी खातिर !"

'अच्छा चलो !" प्रणयी के अनूठे त्याग ने शायद उसकी उदासी का मेघखण्ड उडा दिया। उसने दोनो हाथो से गरारा ऐसे उठाया जैसे विदेशी चलचित्र की तारिका अपना भारी गाउन उठाकर मखमली फर्श पर चल रही हो। वह मुस्कराकर रिक्शा मे बैठी तो चालक ने एक फर्शी लगाकर पूछा—"कहा चलू सरकार ?"

पता नही, उसने क्या कहा, पर अपना सस्ता चश्मा ठीक कर खर्र-से पैडल मारता चालक हवा मे तैरने लगा।

कभी सोचती थी क्या सोचकर इसके मा-बाप ने इसका नाम धरा होगा 'चाद'। पर अब सोचती हू, इससे बढिया नाम इसका और हो ही नही सकता था। गगन के चन्द्र की धरा पर चरण रखते ही तो मानव अपना शारीरिक सन्तुलन खोकर शून्य अन्तरिक्ष मे हाथ-पैर छोडकर तैरने लगता है। और धरा के इस चन्द्र के सम्मुख आते ही मानव उसी विवशता से अपना सन्तुलन खोकर मूर्ख बना शून्य अन्तरिक्ष मे बौराने लगता है !

◇ ◇ ◇